प्रेमचद कुछ सस्मरण

प्रेमचंद

कुछ संस्मरण

उपेन्द्रनाथ अश्क

मन्मथनाथ गुप्त बनारसीदास चतुर्वेदी अमृत राय

जैनेन्द्र कुमार सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला

रसीद अहमद 'सिद्दीकी' प्रभाकर माचवे

जनार्दनराय नागर चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

शिवपूजन सहाय

वीरेन्द्र कुमार जैन, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ज्ञानचंद जैन

ऋषभचरण जैन

रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'

हरिवंश राय 'बच्चन' श्रीमती कमला देवी

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ठाकुर श्रीनाथ सिंह केशरीकिशोर शरण

चतुरसेन शास्त्री

इकबाल बहादुर देवसरे देवेन्द्र सत्यार्थी

भवरमल सिंघी परिपूर्णानन्द वर्मा

जिन्होने प्रेमचद को निकट से देखा, परखा, समझा

उनके अतरग सस्मरणो का अनूठा सकलन

समर्पण

श्री सत्यनारायण पोद्दार
को
जिनकी प्रेरणा तथा
प्रेमचन्द के प्रति अनुराग एवं
श्रद्धा भाव
के कारण
यह कार्य सम्पन्न
हुआ

मूल्य पच्चीस रुपये (25 00)

पहला संस्करण 1980

प्रकाशक | सरस्वती विहार
जी० टी० रोड, शाहदरा
दिल्ली 110032

PREMCHAND KUCHH SANSMARAN (Memoires)
Ed by Dr Kamal Kishor Goenka

समपण

श्री सत्यनारायण पोद्दार
को
जिनकी प्ररणा तथा
प्रमचद के प्रति अनुराग एव
श्रद्धा भाव
के कारण
यह काय सम्पन्न
हुआ

विषय-सूची

भूमिका

प्रेमचंद की जन्म शताब्दी के शुभ अवसर पर संस्मरण के इस संकलन को हिन्दी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इन संस्मरणों के लेखक हिन्दी और उर्दू के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं तथा सभी व्यक्तियों का प्रेमचंद के साथ निकट का सम्पर्क सहयोग एवं साहचर्य रहा था। इन साहित्यकारों का प्रेमचंद से कैसे परिचय हुआ परिचय घनिष्ठता में कैसे परिवर्तित हुआ तथा किस प्रकार साहित्यिक कार्यों में अनेक वर्षों तक साथ रहा इसका अत्यंत यथार्थपरक एवं तथ्यात्मक उद्घाटन इन संस्मरणों में हो सका है। इन संस्मरणों में एक तथ्य सबसे प्रबल रूप में उभरकर सामने आता है कि प्रेमचंद ने अपने समय की युवा पीढ़ी का साथ दिया और अनेक युवा लेखकों को न केवल लिखने की प्रेरणा दी परन्तु उन्हें स्थापित एवं प्रतिष्ठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उनका यह कार्य उन्हें न केवल ऋषि-साहित्यकार के रूप में स्थापित करता है बल्कि जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त आदि समकालीन साहित्यकारों की तुलना में उन्हें और अधिक गौरव-मण्डित करता है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के पश्चात प्रेमचंद ही ऐसे साहित्यकार हैं जिन्हें अपने समय की युवा पीढ़ी के भविष्य के प्रति चिन्ता है। प्रेमचंद ने अपने समय के युवकों के साहित्य लेखन में व्यक्तिगत रुचि ली और प्रतिभासम्पन्न युवकों की पूरी पीढ़ी को साहित्यकार के रूप में रूपान्तरित कर दिया।

पुस्तक में संकलित संस्मरणों में प्रेमचंद के जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन हुआ है। उनके व्यक्तित्व की एक समग्र झांकी इन संस्मरणों से प्राप्त हो सकेगी, ऐसा विश्वास है। इनमें से कुछ संस्मरण प्रेमचंद के देहावसान से पूर्व तथा कुछ तुरन्त बाद और कुछ संस्मरण देहावसान के अनेक वर्षों के उपरान्त लिखे गए थे लेकिन कुछ संस्मरण ऐसे हैं जो मेरे आग्रह पर लिखे गए हैं। मैं उन सभी लेखकों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझ अकिंचन की प्रार्थना स्वीकार की और प्रेमचंद के सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिखकर भेजे। कुछ संस्मरण

प्रश्नोत्तर के रूप में दिए गए हैं। मैं स्वयं इन संस्मरण लेखकों से मिला था और प्रेमचंद के संस्मरण जानने के लिए कुछ प्रश्न पूछे थे। ये प्रश्नोत्तर संस्मरणात्मक हैं तथा प्रेमचंद के जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं, इस कारण इन्हें इस पुस्तक में संकलित किया गया है।

प्रेमचंद से सम्बन्धित अनेक संस्मरण अभी भी अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। इन सभी संस्मरणों को संकलित करने की आवश्यकता है क्योंकि प्रेमचंद के जीवन एवं व्यक्तित्व को जानने की दृष्टि से इन संस्मरणों का महत्त्व असंदिग्ध है। ये वास्तव में ऐसे दस्तावेज हैं जो प्रेम जीवन के अज्ञात पक्षों, घटनाओं एवं प्रसंगों को प्रामाणिक रूप में उद्घाटित करते हैं तथा उनके जीवन को समझने के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराते हैं।

मैं सभी लेखकों का हृदय से आभारी हूँ जिनकी अनुमति एवं सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी है।

—डा० कमलकिशोर गोयनका

हिन्दी विभाग
जाकिर हुसैन कालेज (सान्ध्य)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
अजमेरी गेट, दिल्ली ११ ... ६

मुलाकात जो यादगार बन गई

● इकबाल बहादुर देवसरे

एक जमाना गुजर गया जब सहसा श्री प्रेमचन्दजी से मेरी भेंट हो गई थी। अगस्त, १६२६ की घटना थी। यों तो मेरा उनका पत्र व्यवहार १६२१ से चल रहा था मगर तब तक मिलने का अवसर नहीं आया था।

उन दिनों कानपुर में उर्दू का एक मासिक पत्र 'जमाना' निकला करता था। प्रेमचंदजी उसमें कहानियां लिखा करते थे। मैं भी उसी पत्र में अपनी गजलें और नज्में छपाया करता था। श्री दुर्गासहाय 'सरूर' जहानाबादी 'जमाना' के दफ्तर में थे। प्रेमचंदजी के परम मित्र थे। वह अक्सर मेरी गजलों-नज्मों को पढ़कर पत्र द्वारा उनकी दाद दिया करते थे। मैं प्रेमचंदजी की कहानियां बड़े चाव से पढ़ा करता था और शायद प्रेमचंदजी भी मेरी नज्में गजलें पढ़ते और पसंद करते थे।

उन दिनों मैं मध्य भारत की एक नागौद रियासत में मुलाजिम था। एक बार वश अपने वतन रायबरेली जा रहा था। एक दिन इलाहाबाद में रुककर दूसरे दिन फाफामऊ के जंक्शन पर पहुंचा और बनारस से आनेवाली गाड़ी का इंतजार करने लगा। गाड़ी आई और मैं सामने के एक डिब्बे में घुस गया। डिब्बे में मुसाफिर अधिक न थे। काफी जगह थी। एक बेंच तो बिलकुल खाली पड़ी थी। उसी बेंच पर मैं आराम से बैठ गया। गाड़ी चल पड़ी।

मेरे सामने की बेंच पर अधेड़ आयु के एक सज्जन खद्दर का कुर्ता धोती पहने, दरी बिछाए और सिरहाने तकिया झोला रखे लेटे हुए कोई पत्रिका पढ़ रहे थे। मैंने गौर से देखा उनके हाथ में माधुरी पत्रिका का नया अंक था। किसी नवीन पुस्तक पत्रिका को देखने-पढ़ने के लिए मैं लालायित रहता था, अतः माधुरी को देखने के लिए मोह बढ़ा। मगर उसे वह सज्जन बड़े ध्यान से पढ़ रहे थे, इस लिए मैं चुप बैठा रहा। कुछ देर बाद उन्होंने पढ़ना बन्द करके पत्रिका को रख दिया। अब मुझसे चुप बैठा न रहा गया। मैंने नम्रतापूर्वक उन महाशय से पूछा, "क्या मैं इस पत्रिका को देख सकता हूं?"

उन्होंने मेरी तरफ देखा। बोले, "हां-हां, शौक से पढ़िए।"

मैंने पत्रिका उठा ली और पन्ने पलटने लगा। उन्होंने झोले से 'जमाना' का अंक निकाला और लेटकर उसमें छपी एक कविता जरा खुली आवाज में पढ़ने लगे।

मैंने श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर एक नज्म लिखी थी और वह 'जमाना' के पिछले अंक में छपी थी। पत्र का वह अंक मुझे मिल चुका था। उन सज्जन के हाथ में 'जमाना' का वही अंक था और वह मेरी ही लिखी उस नज्म को पढ़ रहे थे। जब आदि से अंत तक कविता को पढ़कर वे जरा खामोश हुए, मैंने उनसे पूछा, "आपको यह नज्म पसंद आई?"

उन्होंने गौर से मेरी तरफ देखा। बोले, "पसंद आने का क्या सवाल है। बहुत अच्छी नज्म है। मेरे एक दोस्त अफजा की लिखी हुई है। बहुत खूब लिखी है। क्यों?"

मैंने कहा, "वह खाकसार अफजा मैं ही हूं और यह नज्म मेरी ही लिखी है।"

वह बड़े जोर से ठहाका मारकर हंस पड़े और लपककर मुझे अपनी बेंच पर खींच लिया। फिर बड़े स्नेह से बोले, "वाह अफजा साहब, इस वक्त आप खूब मिल गए! आपने मुझे पहचाना?"

मैंने धीरे से कहा, "जी नहीं।"

वह बोले, "मैं वही नाचीज धनपतराय प्रेमचन्द हूं, जिससे आपका एक अर्से से पत्र-व्यवहार जारी है। मध्यमेश्वर बनारस में रहता हूं।"

प्रेमचंदजी आयु में मुझसे काफी बड़े थे। मेरी आयु का २६वां वर्ष चल रहा था। परिचय पाते ही मैंने उनके चरण स्पर्श किए और उन्होंने मुझे छाती से चिपटा लिया।

सावधान होकर बैठने के बाद वह बोले, "पत्र-व्यवहार से तो हम आप एक अर्से से नजदीक थे, मगर आज की इस मुलाकात ने और भी करीब पहुंचा दिया। इस वक्त आप जा कहां रहे हैं?"

मैंने कहा, "रायबरेली जा रहा हूं।"

"तब तो खूब रहा। प्रतापगढ़ तक हमारा आपका साथ रहेगा। खूब गुजरेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।" और कहकहा लगाकर हंस पड़े।

महान् कथाकार प्रेमचद

● उपेन्द्रनाथ अश्क

प्रेमचद से आपका परिचय कसे हुआ ? एक छात्र के रूप मे या एक अदीब के रूप मे ? इस प्रथम परिचय का आपके मन पर क्या प्रभाव पडा ?

अश्क मुझे ठीक सन तो याद नहीं लेकिन मरा खयाल है मैंने कुछ कहानिया लिख ली थी और छप भी गई थी जब मैंने प्रेमचद को पढना शुरू किया। मैंने १६२६ स यानी जिन दिनों मैं आठवी नवीं कक्षा म पढता था, कहानी लिखना शुरू कर दिया था और मेरी कहानिया छपने भी लगी थी। मेरी पहली कहानियों पर तो उर्दू मिलाप(लाहौर) के मालिक महाशय खुशहाल चन्द 'खरसद' के सुपुत्र श्री रणवीरसिंह वीर का प्रभाव था, जो क्रान्तिकारियों की काल्पनिक और रोमानी कहानिया लिखते थे फिर मैंने सुदर्शन को पढा और शायद उसके बाद प्रेमचद को।

उनकी पहली रचना कौन सी पढी, मुझे आज याद नहीं लेकिन उनके पहले कथा सग्रह सोजवतन की कहानिया की याद है। प्रेम पच्चीसी और प्रेम बत्तीसी' की याद है। उनके शुरू के उप यास मैंने बी० ए० पास करत न करत पढ लिए थे। इसके इलावा मैं यद्यपि उर्दू म लिखता था लेकिन हिन्दी पढ लेता था और आर्य समाज (गुरुकुल) जालधर की लाइब्रेरी म जाकर(जो मेरे घर स मील डढ मील दूर आर्य समाज सभा अड्डा होशियारपुर क एक लम्बे आयताकार कमरे म स्थित थी और जहा तमाम हिन्दी पत्र-पत्रिकाए आती थी) मैं विभिन्न पत्रिकाओ म छपनेवाली प्रेमचन्द की कहानिया भी पढा करता था। आदर्शवादी सामाजिक कहानिया थी। तब मैं भी वैसी ही कहानिया लिखता था।

प्रेमचन्द क साहित्यकार से मरा परिचय आठवीं-नवी कक्षा तक ही हो गया था। मुझ उनके उपन्यासों के मुकाबल म उनकी कहानिया बहुत अच्छी लगती थी। उनकी कई उत्कृष्ट कहानियों की याद है। वे आदर्शवादी कहानियां स्वतन्त्रता-आन्दोलन के जमाने म बहुत अच्छी लगती थी।

प्रेमचद से सम्पर्क करने और पत्र व्यवहार आरम्भ करने की इच्छा

किन परिस्थितियों और किन कारणों से हुई ?

मुझे याद है मैंने अपने किसी लेख में उस घटना का उल्लेख किया है। १९३१ की ही बात है। मैं बी० ए० करने के बाद कुछ महीने अपने स्कूल में अध्यापकी का अनुभव प्राप्त कर और उस जीवन से निपट हारकर लाहौर चला गया था। रनव रोड पर जिस जगह दूसरी मंजिल पर दैनिक उर्दू 'भीष्म' का दफ्तर था और उस अखबार के सम्पादक पण्डित मलाराम वफ़ा रहते थे, उनके ऐन सामने दूसरी मंजिल पर श्री सुदर्शन रहते थे। उन दिनों वे एक मासिक पत्रिका 'चन्दन' निकालते थे।

एक दिन वह श्री मलाराम वफ़ा से मिलने आए। वफ़ा साहब उनके लड़कपन के दोस्त थे। मैं श्री वफ़ा को अपनी एक कहानी 'नीरस' सुनाने जा रहा था। एक आध ही पन्ना सुनाया होगा जब सुदर्शनजी आ गए। मैंने फिर से कहानी सुनानी शुरू की। सुनकर सुदर्शनजी ने बहुत दाद दी और 'चन्दन' के लिए कोई नई कहानी लिखने का अनुरोध किया। मैं तब तक दैनिक पत्रों के रविवारीय अंकों से प्रगति कर उर्दू साप्ताहिकों में छपने लगा था। 'चन्दन' प्रसिद्ध मासिक था। ज़ाहिर है मैं बहुत खुश हुआ और मैंने एक कहानी 'औरत की फ़ितरत' विशेषकर 'चन्दन' के लिए लिखी। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है वह अक्तूबर १९३१ के 'चन्दन' में छपी।

उस कहानी पर फ़ोरमैन क्रिश्चियन कालेज लाहौर की किन्हीं दो छात्राओं ने आपत्ति की और सुदर्शनजी को लिखा कि ऐसी कहानी 'चन्दन' में नहीं छपनी चाहिए।

(आज मैं सोचता हूँ और तब भी मुझे यही लगा था कि उस कहानी पर किसी छात्रा-वात्रा ने आपत्ति नहीं की थी। सुदर्शनजी की पत्नी कट्टर आर्य समाजी थीं। आपत्ति उन्होंने ही की होगी। और सुदर्शनजी ने 'चन्दन' की महत्ता बताने के लिए वैसा पत्र और उसका एक उत्तर नवम्बर अंक में छाप दिया।

उन छात्राओं के उत्तर में सुदर्शनजी ने कहानी का पक्ष लेते हुए लिखा,

> इस कहानी में मुसन्निफ़ ने मर्दों पर वाज़ह किया है कि अगर तुम औरत से बेपरवाही करोगे तो औरत भी इन्तकाम लेने को खड़ी हो जाएगी और जिस तरह वह रोती है उसी तरह तुम भी अपनी ग़फ़लत का मातम करोगे। यह कहानी मर्दों को बेदार करती है। उन्हें दोनों शानों से झंझोड़ती है और उनको राहे रास्त पर चलने के लिए मजबूर करती है। और फिर कहानी का आख़िरी हिस्सा औरत के किरदार को किस क़दर बुलन्द कर जाता है। जब उसे मालूम होता है कि वह ग़लत रास्ते पर चलती रही है तो दुनिया और दुनिया की हर एक दिलफ़रेब शै को अपने ऊपर हराम कर लेती है और

अपनी जिन्दगी का अपने हाथों खात्मा कर लेती है। उसके सामने उसका शौहर खड़ा देखता है और सोचता है—औरत जिन्दगी को हंस समझती है, खाविन्द सिर्फ सोचता है। इस मकाम पर मुसन्निफ ने औरत के मुकाबले में मर्द का किरदार किस कदर हल्का और काबिले मलामत दिखाया है।

हालांकि सुदर्शनजी ने कहानी की प्रशंसा ही की थी लेकिन मैं उस वक्त बहुत ही युवा कच्चा और अत्यन्त भावप्रवण था। मुझे अच्छा नहीं लगा। इस बीच मेरी एक और कहानी 'तांगेवाला' 'चन्दन' में छप चुकी थी। तब मेरे मन में आया कि मैं प्रेमचंद को पत्र लिखूं। उस कहानी के बारे में प्रेमचंद की राय जानूं।

आपके मन में इससे पहले कभी प्रेमचंद को पत्र लिखने का खयाल नहीं आया?

अश्क : नहीं। पहले कभी प्रेमचंद को पत्र लिखने का खयाल इसलिए नहीं आया कि प्रेमचंद तब अपनी ख्याति के शिखर पर थे। हिन्दी में वे 'उपन्यास सम्राट्' कहलाने लगे थे। दूर बनारस में रहते थे। मैं लाहौर के दैनिक पत्रों में लिखता था। प्रेमचंद ने कभी मेरी कोई कहानी पढ़ी होगी, मुझे विश्वास नहीं था। लेकिन चूंकि प्रेमचंद की कहानियां 'चन्दन' में भी छपती थीं उन्होंने जरूर मेरी कहानी पढ़ी या कम से कम मेरा नाम देखा होगा इसका विश्वास था। इसीलिए 'चन्दन' में छपते और सुदर्शनजी की टिप्पणी पढ़ते ही मेरा मन प्रेमचंद की सम्मति जानने को हो आया।

प्रेमचंद को आपने अपना पहला पत्र कब लिखा? उन्होंने क्या उत्तर दिया?

अश्क : तभी। नवम्बर १९३१ में—'चन्दन' में सुदर्शनजी की टिप्पणी छपते ही।

मुझे जरा भी उम्मीद नहीं थी कि प्रेमचंद मेरे पत्र का उत्तर देंगे लेकिन जब वापसी डाक उनका एक छोटा सा कार्ड मिला तो मेरी खुशी का पारावार न रहा। मैं वह कार्ड हाथ में लिए हुए साइकल उठाकर लाहौर के सारे मित्रों को सुनाता चला गया। और इसी सूचना भरे प्रयास में उस खो आया। कार्ड पर चन्द पंक्तियों का उत्तर था। मैंने इतनी बार लोगों को सुनाया कि उसकी मुख्य बातें मुझे अब भी याद हैं। उन्होंने लिखा था

अजीज उपेन्द्रनाथजी

आपका खत मिला। मैंने 'चन्दन' में आपकी दोनों कहानियां पढ़ीं

किन परिस्थितियों और किन कारणों से हुई ?

प्रश्न मुझे याद है मैंने अपने किसी लेख में उस घटना का उल्लेख किया है। १६३१ की ही बात है। मैं बी० ए० करने के बाद कुछ महीने अपने स्कूल में अध्यापकी का अनुभव प्राप्त कर और उस जीवन से विमुख होकर लाहौर चला गया था। रलवे रोड पर जिस जगह दुमंजिले पर दैनिक उर्दू भीष्म का दफ्तर था और जहां अखबार के सम्पादक पण्डित मेलाराम 'वफा' रहते थे उनके ऐन सामने दुमंजिले पर श्री सुदर्शन रहते थे। उन दिनों वह एक मासिक पत्रिका चन्दन निकालते थे।

एक दिन वह श्री मेलाराम वफा से मिलने आए। वफा साहब उनके लड़कपन के दोस्त थे। मैं श्री वफा को अपनी एक कहानी नौरत्न सुनाने जा रहा था। एक आध ही पन्ना सुनाया होगा जब सुदर्शनजी आ गए। मैंने फिर से कहानी सुनानी शुरू की। सुनकर सुदर्शनजी ने बहुत दाद दी और 'चन्दन' के लिए कोई नई कहानी लिखने का अनुरोध किया। मैं तब तक दैनिक पत्रों के रविवारीय अंकों से प्रगति पर उर्दू साप्ताहिकों में छपने लगा था। चन्दन प्रसिद्ध मासिक था। जाहिर है मैं बहुत खुश हुआ और मैंने एक कहानी औरत की फितरत विशेषकर चन्दन के लिए लिखी। जहां तक मुझे याद पड़ता है वह अक्तूबर १६३१ के चन्दन में छपी।

उस कहानी पर फोरमैन क्रिश्चियन कालेज लाहौर की किन्हीं दो छात्राओं ने आपत्ति की और सुदर्शनजी को लिखा कि ऐसी कहानी चन्दन में नहीं छपनी चाहिए।

(आज मैं सोचता हूं और तब भी मुझे यही लगा था कि उस कहानी पर किसी छात्रा वात्रा ने आपत्ति नहीं की थी। सुदर्शनजी की पत्नी कट्टर आर्य समाजी थीं। आपत्ति उन्होंने ही की होगी।) और सुदर्शनजी ने चन्दन की महत्ता बताने के लिए वैसा पत्र और उसका एक उत्तर नवम्बर अंक में छाप दिया।

उन छात्राओं के उत्तर में सुदर्शनजी ने कहानी का पक्ष लेते हुए लिखा

इस कहानी में मुसन्निफ ने मर्दों पर वाजह किया है कि अगर तुम औरत से बेपरवाही करोगे तो औरत भी इन्तकाम लेने को खड़ी हो जाएगी और जिस तरह वह रोती है उसी तरह तुम भी अपनी गफलत का मातम करोगे। यह कहानी मर्दों को बेदार करती है। उन्हें दोनों शानों से झंझोड़ती है और उनको राहे रास्त पर चलने के लिए मजबूर करती है। और फिर कहानी का आखिरी हिस्सा औरत के किरदार को किस कदर बुलन्द कर जाता है। जब उसे मालूम होता है कि वह गलत रास्ते पर चलती रही है तो दुनिया और दुनिया की हर एक दिलफरेब शै को अपने ऊपर हराम कर लेती है और

अपनी जिन्दगी का अपने हाथों खात्मा कर लेती है। उसके सामने उसका शौहर खड़ा देखता है और सोचता है—औरत जिन्दगी को हल समझती है, खाविन्द सिर्फ सोचता है। इस मकाम पर मुसन्निफ ने औरत के मुकाबले मर्द का किरदार किस कदर हल्का और काबिल ए मलामत दिखाया है।

हालांकि मुन्शनजी ने कहानी की प्रशंसा ही की थी, लेकिन मैं उस वक्त बहुत ही युवा बच्चा और अत्यन्त भावप्रवण था। मुझे अच्छा नहीं लगा। इस बीच मेरी एक और कहानी 'तांगेवाला' 'चन्दन' में छप चुकी थी। तब मेरे मन में आया कि मैं प्रेमचंद को पत्र लिखूं। उस कहानी के बारे में प्रेमचंद की राय जानूं।

आपके मन में इससे पहले कभी प्रेमचंद को पत्र लिखने का खयाल नहीं आया ?

अश्क नहीं। पहले कभी प्रेमचंद को पत्र लिखने का खयाल इसलिए नहीं आया कि प्रेमचंद तब अपनी ख्याति के शिखर पर थे। हिन्दी में वे 'उपन्यास सम्राट' कहाने लगे थे। दूर बनारस में रहते थे। मैं लाहौर के दैनिक पत्रों में लिखता था। प्रेमचन्द ने कभी मेरी कोई कहानी पढ़ी होगी, मुझे विश्वास नहीं था। लेकिन चूंकि प्रेमचन्द की कहानियां 'चन्दन' में भी छपती थीं, उन्होंने जरूर मेरी कहानी पढ़ी या कम से कम मेरा नाम देखा होगा इसका विश्वास था। इसलिए 'चन्दन' में छपते और मुन्शनजी की टिप्पणी पढ़ते ही मेरा मन प्रेमचंद की सम्मति जानने को हो आया।

प्रेमचंद को आपने अपना पहला पत्र कब लिखा ? उन्होंने क्या उत्तर दिया ?

अश्क तभी। नवम्बर १९३१ में—'चन्दन' में मुन्शनजी की टिप्पणी छपने पर।

मुझे जरा भी उम्मीद नहीं थी कि प्रेमचंद मेरे पत्र का उत्तर देंगे लेकिन जब वापसी डाक उनका एक छोटा सा कार्ड मिला तो मेरी खुशी का वार-पार न रहा। मैं वह कार्ड हाथ में लिए हुए साइकिल उठाकर लाहौर के सारे मित्रों को सुना चला गया। और इसी मूर्खता भरे प्रयास में उसे खो आया। कार्ड पर चन्द पंक्तियों का उत्तर था। मैंने इतनी बार लोगों को सुनाया कि उसकी मुख्य बातें मुझे आज भी याद हैं। उन्होंने लिखा था

अजीज उपेन्द्रनाथजी

आपका खत मिला। मैंने 'चन्दन' में आपकी दोनों कहानियां पढ़ीं

हैं। मैं तो आपको कोई कुहना मश्क अदीब समझता था। मेरे खयाल में कोई नई चीज कहने से बहतर है कि फितरत का सच्चा खाका खींच दिया जाए।

दुआ गो
प्रेमचंद

प्रेमचंद को आपने अपनी पहली रचना कब भेजी? और उसका शीर्षक क्या था? वह कविता थी या कहानी? क्या आपको आशा थी कि प्रेमचंद उसे प्रकाशित करेंगे और आपको प्रेरणा देंगे?

अश्क प्रेमचंद को कविता भेजने का कोई प्रश्न ही नहीं था। क्योंकि न वे कवि थे न उनकी पत्रिका—हंस—कविता ज्यादा छापती थी। मैं उन दिनों उर्दू में लिखता था और वे हिंदी में हंस और साप्ताहिक जागरण निकालते थे। जहां तक मुझे याद पड़ता है, मैंने १९३२ में उनको एक छोटी सी रचना 'हुस्न और इश्क' (जो बाद में मेरे हिंदी कहानी संग्रह निशानियां में 'अमर खोज' के नाम से छपी) भेजी। उन्होंने उसका अनुवाद कर उसे जागरण में दिया था। बाद में भी मैं उन्हें उर्दू में रचना भेजता रहा। एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि मैं उर्दू कहानियां लेकर क्या करूं यानी हिंदी में भेजो तो छापूं और मैंने १९३३ में उन्हें एक हिंदी कहानी भेजी थी। उन्होंने लिखा था कि वे उसमें जरूरी संशोधन करके उसे हंस में दे रहे हैं लेकिन मुझे याद है वह कहानी उन्होंने वापस कर दी थी क्योंकि न कहानी अच्छी थी न भाषा। उसमें प्रेमचंद ने कुछ संशोधन करने का प्रयास किया था फिर थककर उसे छोड़ दिया था। उनके एक कार्ड में उस कहानी की आलोचना है। उनकी आपत्तियों की रोशनी में मैंने उसे फिर लिखा था और वह 'जाहिल बीवी' के नाम से मेरे तीसरे उर्दू संग्रह 'डाची' में छपी थी। जहां तक मुझे याद पड़ता है हंस में मेरी पहली कहानी भाग्यहीन थी जो १९३४ में छपी।

प्रेमचंद ने कुल कितने पत्र आपको लिखे और आपने उनको कितने पत्र लिखे? क्या आप इन पत्रों का विवरण दे सकते हैं?

अश्क क्योंकि मेरे पास तमाम पत्र नहीं हैं एक बार अपनी मूर्खता में मैंने बहुत-से पत्र फाड़ दिए थे उनमें कुछ पत्र प्रेमचंद के भी थे, इसलिए मैं विश्वास के साथ कुछ नहीं कह सकता। तो भी १९३१ से ३६ तक पंद्रह-बीस पत्र तो मैंने लिखे होंगे और उन्होंने उनके उत्तर दिए होंगे। मैं तो अपनी आदत के अनुसार लम्बे ही पत्र लिखता था लेकिन वे प्रायः कार्डों में उत्तर देते थे। उनके दो कार्ड और एक अंतिम पत्र मेरी फाइलों में सुरक्षित हैं।

जैसाकि मैंने ऊपर कहा है पहला पत्र तो मैंने कहानियों पर उनकी राय जानने को लिखा। उन्होंने वापसी डाक से उत्तर दिया और प्रोत्साहन भरा खत

लिखा। मैंने आभार व्यक्त किया। तभी उन्होंने 'जागरण' निकाला था। मैंने उसकी कुछ प्रतियां फजल बुक डिपो चाक अनारकली के लिए मंगाई थीं। जब दो-तीन दिन कोई भी प्रति नहीं बिकी तो मैंने सबकी सब प्रतियां उठाईं और अनारकली में एक-दो बार घूमकर और आवाज लगाकर बेच दीं और पैसे उन्हें भिजवा दिए। उस संदर्भ में भी कुछ पत्र-व्यवहार हुआ।

फिर जब हममें कुछ घनिष्ठता हो गई तो मैंने चाहा कि वह मेरे कहानी-संग्रह के लिए भूमिका लिख दें। उन्होंने मान लिया तो मैंने कहानियां भेज दीं और १९३३ में उन्होंने मेरे दूसरे कहानी संग्रह 'औरत की फितरत' के लिए जागरण' के पैड पर दो-तीन पन्नों की एक भूमिका लिखी। उस भूमिका के साथ उन्होंने कवरिंग लेटर भी भेजा था, दुर्भाग्य से वह मेरे पास नहीं है। यह भूमिका जनवरी, १९३३ में लिखी गई।

मई, १९३५ में मैंने अपनी एक कहानी 'कुर्बानी-गाहे दर्द' का अनुवाद करके 'सरस्वती' इलाहाबाद में छपने को भेजा। यह कहानी बड़ी शान से छपी। उसी महीने मैंने 'हंस' के लिए एक कहानी 'निशानियां' भेजी थी। प्रेमचन्द उन दिनों बम्बई चले गए थे। वहां से उन्होंने मुझे एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने 'सरस्वती' वाली कहानी की आलोचना की—विशेषकर उसकी भाषा की—(जो प्रकटतः अनुवाद की भाषा थी) 'निशानियां' की बहुत तारीफ की और भाषा के बारे में मुझे ऐसी नसीहत की जो आज भी मेरे मन पर अंकित है। इसके अलावा उन्होंने फिल्मी जिन्दगी के बारे में बहुत ही कटु बातें पत्र में लिखी थीं और सूचना दी थी कि वह जल्द ही उस दलदल से निकल आएंगे और अपने उसी 'गोशा ए आफीयत' (बनारस) चले जाएंगे।

यह पत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। मुझे अफसोस है वह मुझसे खो गया। उनके दो कार्ड मेरे पास सुरक्षित हैं। एक को लगता है, मैंने फाड़कर फिर जोड़ लिया है। इनमें से एक में उन्होंने उन कहानियों की आलोचना की है जो मैंने उन्हें भेजी और पढ़ने के लिए मुझे कुछ किताबों का सुझाव दिया है। दूसरे में हिन्दी उर्दू प्रकाशन की मुश्किलों की बात लिखी है।

एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पत्र उन्होंने अपने देहावसान के कुछ महीने पहले लिखा, जो मेरे पास सुरक्षित है।

मेरी पत्नी बहुत बीमार थी और मैं परेशान था और मैंने उन्हें पत्र लिखा था। उस समय वह स्वयं बहुत बीमार थे। तब भी उन्होंने मुझे धीरज बंधाई थी।

इन तमाम पत्रों के बारे में मैंने एक लेख 'प्रेमचन्द के देहावसान पर लिखा था, जो मेरे निबन्ध-संग्रह 'रेखाएं और चित्र' में संकलित है।

एक लेखक के रूप में स्थापित करने में प्रेमचन्द ने आपको कितना

और किस प्रकार सहयोग दिया ? क्या आप स्वीकार करते हैं कि प्रेमचंद ने आपको लेखक बनाया ? बड़े लेखक बनने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न की और उसके लिए भूमिका तयार की ?

अश्क प्रेमचंद को पत्र लिखने से पहले मैं उर्दू में ५-७ वर्षों से छप रहा था। जैसा कि मैं कह चुका हूं चन्दन में मेरी कहानियां छप चुकी थीं जब प्रेमचन्द से मेरा सम्पर्क हुआ लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने मेरी शुरू की कहानियों की तारीफ करके मुझे आत्मविश्वास और बल दिया। भाषा के मामले में उन्होंने मुझे बम्बई से जो पत्र लिखा और बड़ हमेशा के लिए मेरे सामने रहा और यद्यपि जैनेन्द्र के प्रभाव में मैंने अपनी भाषा को थोड़ा लचीला बनाया लेकिन भाषा मैंने वैसी प्रवहमान रखी जैसी कि प्रेमचंद ने मुझे सलाह दी थी। उन्होंने लिखा था कि शब्द चाहे किसी भी भाषा के लो खयाल इस बात का रखो कि खयालात का तसलसुल और तहरीर की रवानी कायम रहे। और मैंने हमेशा इस बात का खयाल रखा है। आज अगर मैं गिरती दीवारें के पांचवें संस्करण की भाषा के खयाल से पूरी तरह संशोधित कर पाया हूं (क्योंकि उर्दू से हिन्दी में आने की प्रक्रिया में उपन्यास की भाषा निहायत क्लिष्ट और संस्कृत निष्ठ हो गई थी) तो मैं इसमें प्रेमचंद के उस परामर्श का ही हाथ मानता हूं। उर्दू में तो नहीं लेकिन हिन्दी में मेरा रचनाओं को हंस में छापकर और आड़े वक्त में मुझे तसल्ली देकर उन्होंने जरूर मेरी मदद की। अपने आखिरी खत में उन्होंने लिखा कि इफ्लास और मसायब का एक इखलाकी पहलू भी है। इन्हीं आजमाइशों में गुजरकर इन्सान इन्सान बनता है। उसमें इस्तेहकाम आता है। और उनका यह कथन भी मेरे लिए मशाल के समान रहा है और यदि मैं तमाम मुसीबतों से अपनी सेंस आफ ह्यूमर को बरकरार रखे हुए निकल आया हूं तो उनकी इस नसीहत का उसमें कम हाथ नहीं। उनकी कहानी कफन और बड़े भाई साहब नशा और मनोवृत्ति से भी मैंने सीखा है और उनके उपन्यास गोदान को पढ़ने के बाद मैंने गिरती दीवारें लिखने की योजना बनाई और इस बात का खयाल रखा कि प्रेमचन्द जहां चूकें, मैं न चूकूं। मैं उस जिन्दगी का चित्रण करूं, जिसको मुझे पूरी तरह अनुभव हो। प्रेमचन्द का अधिकार गांव की जिन्दगी पर था और उसके चित्रण में उनको पूर्ण सफलता मिली है। लेकिन ऊंचे वर्ग की जिन्दगी पर उनकी पकड़ इतनी मजबूत नहीं थी। 'गोदान' में जहां उस वर्ग का चित्रण आया है काल्पनिक लगता है।

उन्होंने अपनी जिन्दगी में प्रेस चलाया और पत्रिकाएं निकालीं और उनका पेट भरने के लिए हमेशा परेशान रहे। मैंने प्रकाशन तो किया। अपनी पुस्तकें खुद छापीं। लेकिन प्रेमचंद की जिन्दगी से सीख लेकर न प्रेस चलाया और न

पत्रिकाएं निकाली।

प्रेमचंद हमेशा लेखन की उपादेयता में विश्वास रखते थे। यदि मैंने 'कला के लिए कला' का दामन छोड़कर जिसे अपने एक मित्र के ससंग में मैंने थाम लिया था, कला में उपादेयता की ओर मुड़ा तो उसमें भी थोड़ा बहुत उनका हाथ जरूर मानता हूं।

फिर इतने बड़े लेखक के साथ पत्र-व्यवहार का सम्पर्क भी नये लेखक को बहुत कुछ दे देता है। वह कई बार व्यक्त नहीं किया जा सकता पर आदमी उसे महसूस करता है। प्रेमचंद ने चाहे मुझे लेखक न बनाया हो, लेकिन उन्होंने मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया। उनकी पत्रिका 'हंस' में छपने की आकांक्षा ने मुझे हिन्दी की ओर प्रवृत्त किया।

नहीं, बड़ा लेखक बनने की प्रेरणा मुझे प्रेमचंद से नहीं मिली। वह तो मुझे मेरे पिता से मिली। हां, प्रेमचंद को देखकर अपने मन की उस बलवती इच्छा को पूरा करने की शक्ति जरूर मैंने अर्जित की।

प्रेमचंद उर्दू हिन्दी के लेखक थे, आप भी दोनों भाषाओं में लिखते हैं, क्या यह प्रेमचंद की प्रेरणा का परिणाम है या उनके अनुकरण का या यह आपका स्वतंत्र निर्णय है? आप क्या दो भाषाओं में एकसाथ लिखना उचित समझते हैं?

अश्क : नहीं, दो नहीं मैं तीन भाषाओं में लिखता रहा हूं। मैंने पंजाबी कवि के रूप में साहित्य क्षेत्र में कदम रखा, फिर उर्दू में लिखा और फिर साथ-साथ हिन्दी में। फिर तीस वर्ष तक अधिकांशतः हिंदी में लेकिन इस दौरान भी मैं कभी उर्दू और कभी पंजाबी में लिखता रहा। जहां तक उचित का प्रश्न है मैं समझता हूं कि मेरे जैसे लेखक को, जो पंजाब में पैदा हुआ और जिसने जिन्दगी भर पंजाब के जीवन का ही चित्रण किया, केवल पंजाबी में लिखना चाहिए लेकिन उस जमाने में गुरुमुखी केवल गुरुद्वारों में बन्द थी। कोई पत्र-पत्रिका नहीं निकलती थी। पंजाब में सब लोग पंजाबी बोलते थे लेकिन अभिव्यक्ति के लिए तीन लिपियों का इस्तेमाल करते थे। कुछ लोग गुरुमुखी लिपि में पंजाबी लिखते थे। ज्यादातर उर्दू में और हिन्दू औरतें देवनागरी में। यह सब परिस्थितिवश हुआ। मैंने न उर्दू ठीक से पढ़ी और न हिन्दी। आज भी जब मुझे लिखते हुए ५० ५२ वर्ष हो गए हैं मैं दोनों भाषाओं में लिखने का दावा नहीं कर सकता। न उर्दू मेरी मातृभाषा है न हिन्दी। चूंकि मैंने दोनों सीख ली हैं दोनों के मेरे पाठक हैं इसलिए मैं दोनों में लिखता हूं।

जब मैंने पंजाबी में कविता करना शुरू किया तो पंजाबी कविता बहुत ही निचले तबके में रायज थी। शहर के गुण्डे, कसाई, सब्जी और कोयला बेचनेवाले

रगरेज और बढई हुक्का के नहचे बनानेवाले और अपनी मश्कों में पानी भरकर घर घर पहुँचाने वाले भिश्ती लोग पंजाबी के कवि थे। मेरे जातिगत संस्कारों को, क्योंकि उनके साथ घूमना फिरना स्वीकार नहीं हुआ और उर्दू शहर के सम्भ्रान्त वर्ग की अभिव्यक्ति का माध्यम थी इसलिए मैं शे'र कहने लगा। फिर उस्ताद से झगड़कर गद्य लिखने लगा।

१९३४ में एक बंगाली इंजीनियर ने बताया कि अगर देश आजाद हुआ तो नागरी लिपि इस देश की राष्ट्र लिपि होगी। तब चूंकि प्रेमचंद से सम्पर्क हो गया था, 'हंस' में छपना चाहता था देश के सभी प्रान्तों में पढे जाने की तमन्ना रखता था इसलिए हिन्दी में लिखने लगा। क्योंकि उर्दू वाले भी मेरे साहित्य को नहीं भूले हैं और उर्दू में लिखना मुझे मुश्किल नहीं लगता इसलिए जब उर्दू दोस्त चाहते हैं मैं लिखता हूं। हालांकि यह भी सच है कि गत ३० वर्षों से मैं लगभग हिन्दी में ही लिखता आ रहा हूं। कहीं अर्धचेतन में प्रेमचंद का उदाहरण भी होगा। इससे मैं इनकार नहीं करता।

> क्या आप स्वीकार करते हैं कि प्रेमचंद की विरासत की तलाश की जानी चाहिए? क्या आप मानते हैं कि उपेन्द्रनाथ अश्क प्रेमचंद की विरासत के एक सशक्त साहित्यकार हैं? अश्कजी, आपके साहित्य में यह विरासत कहां और किन रूपों में अभिव्यक्त हुई है?

अश्क प्रेमचंद की विरासत की तलाश पहले भी की गई है। मैंने ही जब-जब हिन्दी कहानियों पर लिखा है प्रेमचंद से चली आनेवाली प्रगतिशील और साहित्य में उपादेयता वाली परम्परा को (प्रसाद की कलावादी परम्परा के मुकाबले में) रेखांकित किया। जहां तक मेरे साहित्य में उसे रेखांकित करने का प्रश्न है, वह काम समीक्षकों का है और मेरे सारे साहित्य को पढकर वे ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि मैं प्रेमचंद की विरासत का कथाकार हूं या नहीं? हूं, तो कितना हूं और नहीं, तो कितना नहीं। मेरे साहित्य पर बहुत-से लेखकों का प्रभाव है। मैंने बहुत से लेखकों से सीखा है और प्रेमचंद उनमें से सिर्फ एक हैं। मौलिक योगदान भी मेरा बहुत काफी है क्योंकि प्रथमतः भाषा के संदर्भ में प्रेमचंद और जैनेन्द्र से बहुत कुछ सीखने के बावजूद मैंने अपनी निजी शैली विकसित की है। उपन्यासों में इनडायरेक्ट नेरेशन (नाटकों की भाषा के मुकाबले में) मेरे यहां प्रचुर है। और भी कई तरह के अंतर हैं। फिर मैंने पंजाब के निम्न मध्य वर्ग का अधिकांशतः चित्रण किया है और मुझसे पहले शायद किसी-ने इतनी बारीकी और विस्तार से इस वर्ग का चित्रण नहीं किया। कहानी और उपन्यास के अलावा मैंने नाटक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। संस्मरण मेरे जैसे बेबाक और सच्चे आज भी किसीने नहीं लिखे, लेकिन उस

मौलिक श्रवदात की खोज भी समीक्षकों ही को करनी चाहिए।

आज के संदर्भ में आप प्रेमचंद को प्रासंगिक मानते हैं? वह आज कितने हमारे हैं और कितने अतीत के?

अश्क हर महान कलाकार अपने समय को लांघ जाता है और हमेशा प्रासंगिक रहता है। प्रेमचंद भी महान कथाकार थे और उनकी उत्कृष्ट कहानियां, जो आज से ५० वर्ष पहले प्रासंगिक थीं, आज भी प्रासंगिक हैं मैं ऐसा मानता हूं।

प्रेमचदजी का दिल्ली प्रवास

● ऋषभचरण जैन

भाई जनेन्द्र के कारण इस बार मास्टर प्रेमचदजी के दशन हो गए। जिन दिन उनके आने की बात थी, उस दिन वह न आए। जनेन्द्रजी के लडके का जन्म-दिन था, और उसी मौके पर प्रेमचदजी के दशन होने की बात थी। उस दिन छडी हाथ मे लिए नगे सिर भया जनेन्द्र स्टेशन पर जा खडे हुए पर प्रेमचद न आए। बच्चे का जन्म दिन मनाया तो गया, पर सब काम बहुत ही फीका फीका लगा। जनेन्द्र का तो मुह ही सूख गया था।

कई दिन बाद अकस्मात् भया ने खबर भिजवाई—प्रेमचद आ गए हैं। कान-पुर के एक साहित्यिक मित्र उन दिनों ठहरे हुए थ, उनके साथ तुरत चल दिए। घर पहुचे, न जनेन्द्र मौजूद हैं न प्रेमचदजी। घटा भर इन्तजार के बाद लौटे, तो रास्ते मे, ट्राम पर युगलजोडी के दशन हुए।

इसस पहले प्रेमचदजी से एक बार भेंट हुई थी पर बहुत थोडी देर के लिए, एसी जिसम परस्पर समझने-समझाने की गुजाइश ही नहीं थी। इस बार की मुलाकात म, इन पक्तियो के लेखक ने इस ख्यातिप्राप्त औपन्यासिक के व्यक्तित्व को समझने का अवसर लाभ किया।

उस दिन बातचीत जमी नहीं हल्की-सी शम और पथ्य की गम्भीरता के कारण जो मेरे जसे व्यवसायी आदमी मे स्वाभाविक और सम्य हैं—प्रेमचदजी की बातें सुनने का मौका न मिला।

अगले दिन कुतुब जाने का प्रोग्राम था। सुबह नौ बजे ही अपनेराम जा पहुचे। तीनो जना ने तागा किया और चल खडे हुए। माताजी और भाभी ने बहुत-सी पूरिया बाध दी थी।

रास्ता बडे आनन्द से कटा। प्रेमचदजी बडे हास्यप्रिय जीव हैं। हसते हैं तो वातावरण गूज उठता है और चहर की हसी तो क्षण भर को भी दूर नहीं होती। उनके इसी गुण के कारण ग्यारह मील का रास्ता मालूम भी न हुआ।

कुतब पहुचे, तो सबसे पहले पेट-पूजा की फिक्र हुई। अपनेराम निराहार-

मुड़ गए थे इसलिए दोनों सज्जनों की उदारता का दुरुपयोग तक करने से चूके नहीं। जैनेन्द्र पक्के मनोवैज्ञानिक हैं, पर प्रेमचंदजी की तरह गहरे नहीं हैं, इस लिए मेरी शर्मी देखकर मुस्करा पड़े। बड़ी झेंप हुई। और आगे यह झेंप और बढ़ गई।

खा-पीकर जब मैंने प्रस्ताव किया लाठ पर चढ़ा जाए तो जैनेन्द्र झट बोले, 'पेट न भरा होता तो चढ़ जाते।" बात चाहे साधारण भाव से कही गई हो, पर मैं शरमा गया।

पर प्रेमचंदजी ने एक मौलिक बात कहकर मेरी रक्षा कर ली। बोले, 'अरे भई इसपर चढ़ने से इसका महत्त्व घट जाएगा। नीचे खड़े हैं, तो इतनी बड़ी दिखाई देती है ऊपर जाएंगे तो इसकी महानता लुप्त हो जाएगी।"

बात जच गई, और वापस लौट।

प्रेमचन्दजी की कहानियों में स्थान-स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की वकालत है। उनका व्यक्तित्व भी एक्य मय है। अगले दिन शाम को एक मुसलमान सज्जन के घर पर उनका निमन्त्रण था। वो एक बार हंसकर बोले, "आज मौलाना के यहां पुलाव उड़ेगा अगर घर वालों को पता लग जाए तो घर में न घुसने दें।

मुसलमानों के साथ खानपान के विषय में मेरे विचार कैसे भी हों पर प्रेमचंदजी के मनोभावों की सरलता और स्वच्छता के कारण उनपर मेरी श्रद्धा बढ़ गई है। वे कहते हैं, मेरा धर्म खानपान से नहीं टूटता।" सच कहा जाए तो उनके मन में हिन्दू और मुसलमान में कुछ अन्तर है ही नहीं। मेरी समझ में वह बहुत बड़े राष्ट्रभक्त हैं और उन लोगों से बहुत ऊंचे हैं जो ढोल बजाकर, नेता बनकर और अपनी बहादुरी पर गौरवान्वित होते हुए, हिन्दू मुस्लिम सहभोजों की योजना करते हैं। प्रेमचंदजी कहते हैं—घोषणा करना ढोल बजाना, या जाकर में खाना ये सब दिल की कमजोरी को छिपाने के भिन्न भिन्न तरीके हैं, अगर मुसलमानों के साथ खाने का मौका पड़ जाए तो बिना झिझक, बिना छिपाए उस मौके का उपयोग करना चाहिए।

एक बार मैंने कहा ऐसा जान पड़ता है कि आप अपने उपन्यासों में राजनैतिक घटनाओं का समावेश करते डरते हैं। अब जैनेन्द्र ने और उन्होंने प्रतिवाद किया तो मैंने 'गबन' के अंश का निर्देश किया। मैंने कहा 'जिस डकैती की बात आपने लिखी है उसमें कहीं भी खुल्लम-खुल्ला यह नहीं लिखा गया कि वह क्रान्तिकारियों का काम था, अच्छी भावना से प्रेरित होकर किया गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि डकैतों के साथ पाठक की सहानुभूति नहीं होती।" इसपर उन्होंने कहा, 'भई यह तो जाहिर है कि डकैती राजनीतिक थी, पर उसकी वकालत में कोई शब्द हमने इसलिए नहीं कहा,

प्रेमचदजी का दिल्ली प्रवास

● ऋषभचरण जैन

भाई जैनेन्द्र के कारण इस बार मास्टर प्रेमचदजी के दर्शन हो गए। जिस दिन उनके आने की बात थी, उस दिन वह न आए। जनेन्द्रजी के लडके का जन्म-दिन था, और उसी मौके पर प्रेमचदजी के दर्शन होने की बात थी। उस दिन छडी हाथ मे लिए नगे सिर भैया जनेन्द्र स्टेशन पर जा खडे हुए पर प्रेमचद न आए। बच्चे का जन्म दिन मनाया तो गया, पर सब काम बहुत ही फीका फीका लगा। जनेन्द्र का तो मुह ही सूख गया था।

कई दिन बाद अकस्मात भया ने खबर भिजवाई—प्रेमचद आ गए हैं। कानपुर के एक साहित्यिक मित्र उन दिनो ठहरे हुए थे उनके साथ तुरत चल दिए। घर पहुचे न जनेन्द्र मौजूद हैं न प्रेमचदजी। घटा भर इतजार के बाद लौटे तो रास्ते म ट्राम पर युगलजोडी के दर्शन हुए।

इससे पहले प्रेमचदजी से एक बार भेंट हुई थी पर बहुत थोडी देर के लिए ऐसी जिसमे परस्पर समझने समझाने की गुजाइश ही नही थी। इस बार की मुलाकात म इन पक्तियो के लेखक ने इस ख्यातिप्राप्त औपन्यासिक के व्यक्तित्व को समझने का अवसर लाभ किया।

उस दिन बातचीत जमा नही हल्की सी शर्म और व्यथ की गम्भीरता के कारण जो मेरे जस व्यवसायी आदमी म स्वाभाविक और सम्य हैं—प्रेमचदजी की बातें सुनने का मौका न मिला।

अगले दिन कुतुब जाने का प्रोग्राम था। सुबह नौ बजे ही अपनेराम जा पहुचे। तीनो जनो ने तागा किया और चल खडे हुए। माताजी और भाभी ने बहुत-सी पूरिया बाध दी थी।

रास्ता बडे आनन्द से कटा। प्रेमचदजी बडे हास्यप्रिय जीव हैं। हसते हैं तो वातावरण गूज उठता है और चेहरे की हसी तो क्षण भर को भी दूर नही होती। उनके इसी गुण के कारण ग्यारह मील का रास्ता मालूम भी न हुआ।

कुतुब पहुचे तो सबसे पहले पेट-पूजा की फिक्र हुई। अपनेराम निराहार-

मुह गए थ, इसलिए दोनो सज्जनो की उदारता का दुरुपयोग तक करने मे चूके नही। जनेन्द्र पक्के मनोवैज्ञानिक हैं पर प्रेमचदजी की तरह गहरे नही हैं, इसलिए मेरी बेशर्मी देखकर मुस्करा पडे। बडी झेंप हुई। और आज यह झेंप और बढ गई।

खा-पीकर जब मैंने प्रस्ताव किया, लाठ पर चढा जाए, तो जनेन्द्र झट बोले, "पेट न भरा होता तो चढ जाते।" बात चाहे साधारण भाव से कही गई हो, पर मैं शरमा गया।

पर प्रेमचदजी ने एक मौलिक बात कहकर मेरी रक्षा कर ली। बोले, 'अरे भई इसपर चढने से इसका महत्त्व घट जाएगा। नीचे खडे हैं, तो इतनी बडी दिखाई देती है ऊपर जाएगे तो इसकी महानता लुप्त हो जाएगी।'

बात जच गई और वापस लौटे।

प्रेमचदजी की कहानियो में स्थान-स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की वकालत है। उनका व्यक्तित्व भी एक्य मय है। अगले दिन शाम को एक मुसलमान सज्जन के घर पर उनका निमन्त्रण था। दो एक बार हसकर बोले, 'आज मौलाना के यहा पुलाव उडेगा, अगर घर वालो को पता लग जाए तो घर मे न घुसने दें।

मुसलमानो से साथ खानपान के विषय मे मेरे विचार कैसे भी हों, पर प्रेमचदजी के मनोभावो की सरलता और स्वच्छता के कारण उनपर मेरी श्रद्धा बढ गई है। वे कहते हैं, 'मेरा धर्म खानपान से नही टूटता।" सच कहा जाए तो उनके मन में हिन्दू और मुसलमान मे कुछ अन्तर है ही नही। मेरी समझ मे वह बहुत बडे राष्ट्रभक्त हैं, और उन लोगो से बहुत ऊचे हैं जो ढोल बजाकर, नेता बनकर और अपनी बहादुरी पर गौरवान्वित होते हुए, हिन्दू-मुस्लिम सहभोजों की योजना करते हैं। प्रेमचदजी कहते हैं—घोषणा करना, ढोल बजाना, या जोश मे आना, ये सब दिल की कमजोरी को छिपाने के भिन्न भिन्न तरीके हैं, अगर मुसलमानो के साथ खाने का मौका पड जाए तो बिना हिचक, बिना छिपाए उस मौके का उपयोग करना चाहिए।

एक बार मैंने कहा "ऐसा जान पडता है कि आप अपने उपन्यासो मे राजनीतिक घटनाओं का समावेश करते डरते हैं।" जब जनेन्द्र ने और उन्होंने प्रतिवाद किया तो मैंने गबन के अन्त का निर्देश किया। मैंने कहा, 'जिस डकैती की बात आपने लिखी है, उसमे कही भी खुल्लम खुल्ला यह नही लिखा गया कि वह क्रान्तिकारियो का काम था अच्छी भावना से प्रेरित होकर किया गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि डकैतो के साथ पाठकों की सहानुभूति नही होती। इसपर उन्होंने कहा, "भई यह तो जाहिर है कि डकैती राजनीतिक थी पर उसकी वकालत मे थोडे शब्द हमने इसलिए नही कहा

इस भोज के कारण प्रेमचंदजी के आगमन की सूचना शहर भर में फैल गई। गोरे पत्र 'स्टेट्समैन' तक ने उनके आगमन और इन महभोजों की खबर छापी।

इसकी अगली रात को प्रेमचंद जाने वाले थे। धनतेरस का दिन था। शाम को हिंदी प्रचारिणी-सभा द्वारा उन्हें मान पत्र दिया जाने वाला था। सब सामान बांध-बूंधकर चादर कंधे पर डालकर प्रेमचंद जैनेन्द्र के साथ सभा में आ गए। यानी वहां से छूटते ही सीधे स्टेशन जाने का इरादा था। पर यहां एक आकस्मिक घटना घटित हो गई।

जब मान पत्र पढ़ा जा चुका, और कारवाई खत्म होने को थी तो सहसा एक पंजाबी सज्जन खड़े हुए और कहने लगे 'महाशयो! मेरी एक अरदास है। मैं अमृतसर का रहने वाला हूं। आज से कुछ साल पहले मेरे व्यापार में घाटा हो गया था, और मैं करीब करीब फकीर बनकर तलाश-माश में कलकत्ता पहुंचा। वहां मेरे पास सिर्फ चार रुपये थे। जब मैं बाजार में घूम रहा था, तो अचानक मेरी नजर एक बुक-स्टाल पर पड़ी। वहां रिसाला 'जमाना' का एक नम्बर रखा हुआ था। डेढ़ रुपया उसकी कीमत थी। उलटकर देखा—तो एक कहानी मुंशी साहब की भी थी। मैं कोई साहित्यिक नहीं मगर मुन्शीजी की मजमून निगारी का मुश्ताक हूं। सर साहब, मैंने चार रुपये में से डेढ़ का वह रिसाला खरीद लिया। उसमें मुन्शीजी की 'मंत्र' नाम की कहानी थी। साहबो इस कहानी ने मेरी जिन्दगी में वह मंत्र फूंका कि मैंने कुछ ही दिन में हजारों रुपया पैदा कर लिया और अब आपके कदमों के पास इसी दिल्ली शहर में रहता हूं। मैं बराबर मुन्शीजी के दर्शन करने को छटपटा रहा था। एक बार कलकत्ते से लखनऊ भी उनसे मुलाकात के लिए गया मगर बदकिस्मती से उनके दर्शन न हुए। अब आज मुझे ज्योंही खबर मिली, दौड़ा आया हूं। मेरी ख्वाहिश है कि मुन्शीजी एक दिन और कयाम करें, और वह खुद और आप सब साहबान कल मेरे घर पर ही भोजन पाएं।

इसपर वहां शोर मचा। सब लोग कहते थे—प्रेमचंद ठहरेंगे। जैनेन्द्र ने भी ठहरने का समर्थन किया। इसपर प्रेमचंद उठे, और कहने लगे "साहबो मैं बाल-बच्चेदार आदमी हूं। घर में कोई बड़ा पुरुष नहीं है छोटे छोटे बच्चे हैं। कल त्योहार का दिन है। भला मैं तो यहां गुलछर्रे उड़ाऊंगा, और वहां बच्चे इन्तजार करते होंगे बाबूजी आते हैं बेचारों का मुंह सूख जाएगा। भला सोचिए, कभी बन्दी है।"

व्यर्थ। उन्होंने बच्चों की विवशता का करुणापूर्ण चित्र खींचने में कमाल कर दिया था, पर निर्दयी लोगों ने एक न सुनी और प्रेमचन्दजी को सर्वसम्मति के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा।

कि हम हिंसात्मक क्रांति में विश्वास नहीं है न हिंसाकारियों से सहानुभूति,—क्योंकि हम विश्वास है—इस उपाय से देश कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता।' यह बात यद्यपि पुरानी है और बहुत से लोगों द्वारा दुहराई गई है पर भारतवर्ष के एक बड़े औपन्यासिक के मत का उल्लेख आवश्यक था।

दूसरे दिन महारथी प्रेस के मालिक प० रामचन्द्र शर्मा का निमन्त्रण मिला। शाम को पाच बजे ही जा डटे। जैनेन्द्रजी की लापरवाही से वहा भी लोगों को दो घण्टे इतजार करना पडा। तब सब लोग पहुच। दिल्ली म भी दो-एक छायावादी मौजूद हैं। उनकी कविता इत्यादि के बाद प्रेमचदजी न कुछ शब्द कहे और खान पीने के बाद सबको छुट्टी मिली।

प्रेमचदजी वक्ता नहीं हैं। बोलते समय झेंपते से हैं। दो-चार वाक्यों म ही उनकी बात समाप्त हो जाती है। ऐसा जान पडता है कि थोडी देर बोलते रहने के बाद वह शब्दों की जगह साहस ढूढन लगते हैं और आग बोलना उनके लिए दुश्वार हो जाता है। दिल्ली में तीन चार बार उन्हें बोलने का मौका मिला और हमेशा मैंने उनकी इस अक्षमता का अनुभव किया।

इसके दूसरे दिन प्रोफेसर इन्द्र का निमन्त्रण पत्र मिला। वहा शहर के बहुत से प्रमुख व्यक्ति एकत्रित हुए थे जिनम ख्वाजा हसन निजामी बरिस्टर आसफ अली सरदार दीवानसिंह लाला देशबन्धु मौलाना हकीम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मिस्टर आसफअली और ख्वाजा हसन निजामी से जब प्रेमचदजी का परिचय कराया गया, तो दोनों हाथ उठाकर मुगलिया ढग से सलाम करने का उनका ढग देखकर हसी आए बिना न रही। साथ ही उनकी शिष्टता और सबस सब जस घनकर मिलने की योग्यता का अनुभव भी हुआ।

इस मौके पर बड़ा आनन्द रहा। ख्वाजा साहब ने कहा, 'साहबो! मैं मुन्शी प्रेमचद की इज्जत करता हू। जिस जमान म हिन्दू मुसलमान लड रहे थे और जिसमें मैं भी शामिल था उस वक्त मुन्शी प्रेमचद की इत्तहाद और मुहब्बत भरी कहानिया छप रही थी। आपकी उन कहानियों ने कितने बिगडे दिमागों को दुरुस्त किया होगा और कितने बिछुड़े दिलों को मिलाया होगा इसे कौन जानता है? इत्यादि इत्यादि।

जैनेन्द्रजी ने यहा प्रेमचदजी की कला के विषय म कुछ बोलते हुए एक प्रस्ताव रखा कि दिल्ली म कोई ऐसी साहित्यिक सस्था स्थापित की जाए, जिसमें हिन्दू और मुसलमान साहित्यिक सम्मिलित हो सकें और परस्पर विचारों के आदान प्रदान द्वारा सहयोग और स्नेह की नींव रखें। ख्वाजा साहब न इस प्रस्ताव के विषय म बहुत उत्साह दिखाया। परन्तु खेद है कि कुछ लोगों ने इसका असल महत्त्व न समझकर इस प्रस्ताव को खटाई म डाल दिया।

इस भोज के कारण प्रेमचंदजी के आगमन की सूचना शहर भर में फैल गई। गोर पत्र 'स्टेट्समेन' तक ने उनके आगमन और इन सहभोजों की खबर छापी।

इसकी अगली रात को प्रेमचंद जाने वाले थे। धनतेरस का दिन था। शाम को हिंदी प्रचारिणी-सभा द्वारा उन्हें मान पत्र दिया जाने वाला था। सब सामान बांध बूंधकर चादर कंधे पर डालकर प्रेमचंद जैनेंद्र के साथ सभा में आ गए। यानी वहां से छूटते ही सीधे स्टेशन जाने का इरादा था। पर यहां एक आकस्मिक घटना घटित हो गई।

जब मान-पत्र पढ़ा जा चुका, और कारवाई खत्म होने को थी तो सहसा एक पंजाबी सज्जन खड़े हुए, और कहने लगे "महाशयो ! मेरी एक अरदास है। मैं अमृतसर का रहने वाला हूं। आज से कुछ साल पहले मेरे व्यापार में घाटा हो गया था और मैं करीब करीब फकीर बनकर तलाश-माश में कलकत्ता पहुंचा। वहां मेरे पास सिर्फ चार रुपय थे। जब मैं बाजार में घूम रहा था, तो अचानक मेरी नजर एक बुक-स्टाल पर पड़ी। वहां रिसाला 'जमाना' का एक नम्बर रखा हुआ था। डेढ़ रुपया उसकी कीमत थी। उलटकर देखा—तो एक कहानी मुन्शी साहब की भी थी। मैं कोई साहित्यिक नहीं मगर मुन्शीजी की मजमून निगारी का मुरीद हूं। खैर साहब मैंने चार रुपय में से डेढ़ का वह रिसाला खरीद लिया। उसमें मुन्शीजी की 'मंत्र' नाम की कहानी थी। साहबो इस कहानी ने मेरी जिन्दगी में वह मंत्र फूंका कि मैंने कुछ ही दिन में हजारों रुपया पैदा कर लिया और अब आपके कदमों के पास, इसी दिल्ली शहर में रहता हूं। मैं बराबर मुन्शीजी के दर्शन करने को छटपटा रहा था। एक बार बनवरी में लखनऊ भी उनसे मुलाकात के लिए गया मगर बदकिस्मती से उनके दर्शन न हुए। अब आज मुझे ज्योंही खबर मिली दौड़ा आया हूं। मेरी ख्वाहिश है कि मुन्शीजी एक दिन और क्याम करें, और वह खुद और आप सब साहबान कल मेरे घर पर ही भोजन पाएं।

इसपर बड़ा शोर मचा। सब लोग कहते थे— प्रेमचंद ठहरेंगे। जैनेंद्र ने भी ठहरने का समर्थन किया। इसपर प्रेमचंद उठे, और कहने लगे "साहबो मैं बाल-बच्चेदार आदमी हूं। घर में कोई बड़ा पुरुष नहीं है, छोटे छोटे बच्चे हैं। कल दीवाली का दिन है। भला मैं तो यहां गुलछर्रे उड़ाऊंगा और वहां बच्चे इन्तजार करते होंगे बाबूजी आते हैं बेचारा का मुंह सूख जाएगा। भला सोचिए, कैसी बात है ?"

बस ! उन्होंने बच्चों की विवशता का करुणापूर्ण चित्र खींचने में कमाल कर दिया था पर दिल्ली वालों ने एक न सुनी और प्रेमचंदजी को सबसम्मति के आगे सिर झुकाना पड़ा।

अगले दिन बारह बजे ही सब लोग उक्त पंजाबी सज्जन के घर इकट्ठे हुए। बेचारे ने बहुत खातिर की। करीब पचास साठ आदमियों के लिए खाना बनवाया। पर आए कुल पन्द्रह बीस ही। यहां अच्छा मनोरंजन रहा।

जैनेन्द्र तो बार-बार यही कहते थे भई बड़ी भारी घटना है, प्रेमचंद के औपन्यासिक जीवन की बड़ी सफलता है।

प्रेमचन्द की विशाल हृदयता का परिचय मैंने यहां पाया। उस घर के बच्चों से वह ऐसे घुल मिल गए कि वे लोग उन्हें छोड़े नहीं। यहां तक कि गृहिणी से पास से भी पर्दे में उनकी मुलाहट हुई। रूखे बाल और नंगे सिर प्रेमचंद भीतर गए, और दस-पन्द्रह मिनट बाद बाहर आए। जब हम लोग वापस होकर तांगे में बैठे तो वह कहने लगे "गृहिणी बेचारी बहुत ही दुबली-पतली और रोगिणी हैं। माधुरी बराबर पढ़ती रही हैं। कहती थी मेरे बड़े भाग्य, जो आपके दर्शन मिले। मैंने उन्हें हिन्दी का अधिक पठन पाठन करने की सलाह दी है।

इसके बाद फोटो का प्रोग्राम था। प्रेमचंद बहुत ही सरल आदमी हैं, और झट हां कर देते हैं। जब मैंने प्रस्ताव किया था तो एक बार नहीं कहा, फिर दोबारा कहने पर झट स्वीकार कर लिया। फोटोग्राफर ने कहा, 'टोपी उतार दीजिए' तो झट हंसकर टोपी दूर फेंक दी।

(इस फोटो की कापी जब उन्हें लखनऊ भेजी गई तो उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा, ऋषभ ने फोटो भेजा है। मेरा मुंह टेढ़ा आया है। क्या करें, नसीब ही टेढ़ा है।)

इसके बाद एक घण्टे के लिए कुदसिया बाग में जा पड़े। वहां नेल्सन की मूर्ति कवि इकबाल और विलायती खजूर से लेकर गदर गांधी और कांग्रेस तक पर मौलिक और मनोरंजक टिप्पणियां हुई। स्थानाभाव से उन सब बातों का उल्लेख नहीं हो सकता।

तब चार बजे मैं युगलजोड़ी से विदा हुआ। इच्छा थी रात को रेल पर पहुंचूं पर न जा सका। जाता तो और कुछ बातें सुनता। क्योंकि जैनेन्द्र कहते थे—प्रेमचंद ने अपने जीवन की कुछ दुर्बलताएं सुनाई थीं।

प्रेमचन्द चले तो गए पर हम लोगों के दिल से उनकी याद मुद्दत तक न भूलेगी। वह जितने उच्च-कोटि के लेखक हैं उतना ही ऊंचा उनका व्यक्तित्व है।' उनका मन द्वेष भाव से रहित है और जीवन अत्यन्त सरल है। उनके पास बैठकर आदमी घण्टों उनका मुंह ताकता रहे तो भी तृप्ति नहीं होती। महात्मा गांधी जैसी मृदुमुस्कान हमेशा उनके चेहरे पर व्याप्त रहती है। उनके व्यवहार में बनावट तो छू ही नहीं गई है। मुझे और भी अनेक बड़े बड़े लेखकों के दर्शन का सौभाग्य मिला है। 'कौशिकजी' में जो तकल्लुफ का माद्दा है और चतुरसेनजी में जो निरंतर गम्भीरता है और सुदर्शनजी में जो व्यय का आदर्शवाद है—

प्रेमचदजी इन सवम वरी हैं। उनका दिन ग्रौर न्मािग हमेशा खुला रहता है, ग्रौर वच्चे ग्रौर बूढे के साथ वह समभाव से मिलते हैं। मेरी समझ मे तो उनके इसी गुण के कारण उनकी रचनाए इतनी मकबूल हुई हैं ग्रौर भविष्य मे जव ग्रालोचक लोग उनके जीवन पर टीका टिप्पणी करेंगे, तो उनके स्वभाव पर उन्हे बहुत कुछ लिखना होगा।

अनन्तदानी

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

प्रमचद सचमुच अनन्तदानी थे। बिना कुछ पास हुए भी दिए ही गए और इस निरन्तर दान म कही भी उम अभाव की रूक्षता या कडवाहट नही। प्रेमचद अपने समय के बहुत बडे कलाकार थ पर उससे भी बडे मनुष्य थे। समाज की उस उपेक्षा म भी दिए जाना और अपने को कटुता से बचाए रखना किसी साधारण मनुष्य के लिए सम्भव ही नही था।

उनकी आखें बुराइयो की सघन सपाट दीवार के आरपार मनुष्य मे देवत्व का दशन करने की आदी थी। मैंन उनसे पूछा, 'कहने को तो आप कहत हैं कि मेरा ईश्वर म विश्वास नही है मैं नास्तिक हू पर अपने साहित्य म बार-बार आपका प्रयत्न है मनुष्य मे देवत्व का दशन प्रचार और उभार। भला यह क्या बात है?'

अपने खास लहजे मे वह बोले जनाब! ईश्वर म विश्वास करने की ... पडती है जो आदमी में देवत्व का दशन नही कर सकत। यह तो ... बात है, किसी चमत्कार की नही कि बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा ...। उसमे कही न कही देवत्व छिपा रहता है। मैंने अपनी कलम स इस ... रहा उभार दिया है, कही-कही प्रकाशित कर दिया है।'

... इसी मूल दृष्टिकोण के कारण बुरे आदमियो की भी बुराई ... कह कि बुरे आदमियों की बुराई को सह जाते थे पी जाते

... कि प्रेमचद के विरोध का एक बवडर ... प्लाट उडाने वाला कहा ... घणा का प्रचारक। ...

... मे ...

बालकों को भी मात करनेवाले भोलेपन में बोले, 'क्या जवाब हो सकता है उन बातों का ? हरेक अपनी राय का बादशाह होता है, तो मैं कौन हूँ जो उनकी राय का भी बादशाह बन बैठूं ?'

बात का रुख बदलने के लिए फिर बोले, 'अच्छा जनाब, छोड़िए यह जग बीती, और आपबीती पर आइए और बताइए कि आपकी मेरे बारे में क्या राय है ?'

मैंने कहा, आपकी अब तक हुई प्रशंसाओं के साथ मेरी राय है कि सूक्तियों की रचना और फिटिंग के बारे में संसार का कोई साहित्यिक आपकी बराबरी नहीं कर सकता।

झपटते-से बोले, ठीक है यह आपकी राय है। अब कोई मुझसे कहे कि मैं इसका, यानी आपकी इस राय का जवाब दूं, तो बताइए कि क्या जवाब दूं ?"

और इतने जोर से हँसे कि वातावरण में विरोध की भावना का टिक सकना ही असम्भव हो गया।

मैंने उनमें बहुत बार बातें करके उनकी बातचीत का एक दाँव पकड़ा था कि जब वह किसी बात पर आना न चाहते या सामने आ गई बात को बदलना चाहते तो अपने और उस बात के बीच में हँसी की एक दीवार खड़ी कर देते।

एक पत्र में एक बार उनका एक पत्र छपा। वह अंग्रेजी में था। मिलने पर चम्पी से मैंने पूछा, अपने मित्रों को आप अंग्रेजी में खत क्यों लिखते हैं ?

बोले 'क्योंकि मैं बी० ए० पास हूँ।' और इतने जोर से हँसे कि मेरी बेअदबी और वहम दोनों दब गए।

ऐसे ही एक दिन उनके जीवन के 'नोट्स' लेने को मैंने धीरे से दाँव गाँठा, 'प्रेमचंदजी, आपने लिखना कैसे प्रारम्भ किया ?

झट बोले 'जी ! दवात, कलम और कागज लेकर।' —और फिर जोर से हँस पड़े।

वैसे उनकी बातचीत बहुत मजेदार होती थी। वह शास्त्रीय बात और सरल मजेदार दोनों तरह की बात करने में दिलचस्पी लेते थे। बीच-बीच में वह हास्य का पुट भी देते जाते और अट्टहास का सम्पुट भी। उनमें बात करके प्रकाश मिलता था प्रेरणा भी और प्रसन्नता भी।

वह दम्भ से कोसों दूर थे और तन मन की सादगी ही उनका चरित्र था। नीचे कुरते के नीचे ऊँची धोती तो उनका पूरा सूट था ही, पर पैरों में बिना फीते के जूते भी मैंने उन्हें पहने देखा *जिसमें से उंगलियाँ बाहर निकली हुई थीं।* देखकर मेरा दिल भर आया, तो मैंने कहा 'इस देश के पास अवार आदमियों की शानदार अटैचियों के लिए तो काफी चमड़ा है पर आपके जूते के लिए नहीं।'

मेरी बात सुनकर उन्होंने अपने पर की तरफ देखा तो मुझे लगा कि अभी तक इधर उनका ध्यान ही नहीं गया था, पर तुरन्त मेरी ओर देखकर बोले तुम्हारे पास चमड़े की अटैची है ?

मेरे पास नहीं थी पर सोचा शायद इन्हें जरूरत है तो बाजार से खरीद कर देता जाऊंगा और भूमिका बनाते हुए कहा 'हां है, पर मुझे उसकी जरूरत नहीं है। कृपा कर आप स्वीकार करें।

हंसकर बोले मुझे क्या करना है उसका ?' और फिर कहा इस तरह की चीज साथ रहने से यात्रा का आनन्द बिगड़ जाता है।

—कैसे ? क्या कीमती चीजें होने से उनमें ही ध्यान लगा रहता है बाहर के विशाल वातावरण में नहीं रम पाता ?

मैं बिना पलक गिराए कई क्षण उनकी तरफ ही देखता रह गया। बस रमने के लिए उन्हें किसी वातावरण की आवश्यकता न थी क्योंकि वह अपने में ही सदा रम रहते थे। सचाई यह है कि उनके भीतर बाहर की दुनिया से शानदार एक दुनिया बसी हुई थी और वह किसी भी बात में इस दुनिया के द्वार पर भिखारी न थे।

एक बार मैं उनके पास बैठा उनकी ही कोई चीज पढ़ रहा था और वह एक नई कहानी लिख रहे थे। तभी आ गए हिन्दी के एक बहुत बड़े साहित्यकार। उन्होंने कलम रख दी और बातें करने लगे। चाय भी आई और पी गई। कोई दो घंटे लग गए पर मैं देखता रह गया कि उन्हें जीने तक पहुंचाकर वह लौटे और फिर वहीं से लिखने लगे उसी तरह उसमें डूबकर।

जब लिख चुके तो मैंने पूछा बीच के व्यवधान से आपका 'मूड' खराब नहीं हुआ ?'

चौंकते से बोले मूड ? क्या मूड ?

मैंने कहा 'मूड यानी मूड आखिर मूड आने पर ही तो लेखक कुछ लिख सकता है।

तो मित्रों को पत्र लिखिए और कुछ पढ़िए। बस, यों ही पांच दिन तक कीजिए, तो छठे दिन बैठते ही आपका मूड आ जाएगा और उस दिन के बाद पांच से आठ बजे तक का समय मूड का समय होगा।'

वह जब चाहते तब लिख सकते थे। उन्हें किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता न थी। मैं उनसे एक बार पूछ बैठा, 'आप कैसे कागज पर, कैसे पेन से लिखते हैं?' बहुत जोर से हंसे और बोले, 'ऐसे कागज पर जनाब, जिसपर पहले से कुछ न लिखा हो और ऐसे पेन से जिसका निब टूटा न हो। भाईजान! ये सब चोंचले मजदूरों के लिए नहीं हैं।'

प्रेमचंद महान थे पर उनकी महानता क्या थी? किस बात में थी? वेशभूषा तो उनकी एक किसान जैसी थी ही, चेहरा भी उनका रोबीला न था। उसपर दूर तक देखती नशीली आंखें थीं हंसने के बेचैन से होंठ थे चौड़ी पेशानी थी खिला हुआ रंग था पर इतनी साधुता सरलता थी कि वह उनकी महानता का प्रतिबिम्ब न हो पाती थी। फिर वह किधर से महान थे? उनकी महानता यह थी कि उन्हें अपने महान होने का गर्व तो दूर ध्यान भी न था। समाज उन्हें देता है जो उससे झपट्टा मारकर ले सके। प्रेमचंद को यह समाज उनके जीवन में कुछ नहीं दे पाया, क्योंकि उनमें यह झपट तो दूर मांग की प्रखरता भी न थी।

वह समाज से कुछ न पाने पर भी इतने संतुष्ट कैसे थे? उनके संतोष का आधार क्या था? उसका आधार यह था कि वह यह मानते ही न थे कि वह किसीका कुछ काम कर रहे हैं। वह मानते थे कि वह अपना ही काम कर रहे हैं। तभी तो अपनी अंतिम बीमारी तक वह अपना काम करते रहे। वह काम करते-करते इस संसार से गए। अपने काम के सिवाय उन घड़ियों में भी उन्होंने कुछ नहीं सोचा। क्या उनकी मृत्यु मोर्चे पर सिपाही की मृत्यु नहीं थी और उन्हें साहित्य का शहीद कहना कोई पक्षपात है?

मेरे बाबूजी

○ श्रीमती कमलादेवी

आप अपने पिता प्रेमचन्दजी को किस रूप मे स्मरण करती हैं ?

कमलादेवी मेरे पिता सीधे सादे स्नेही एव वात्सल्य से पूर्ण थे। मेरे मन म उनका यही चित्र उभरता है । वह मुझसे बहुत प्रेम करते थे। उनकी पहली बीवी से कोई सन्तान नही थी। दूसरे विवाह के बाद उनके पुत्र का जन्म हुआ लेकिन शीघ्र ही उसका देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु के एक वर्ष के पश्चात मेरा जन्म हुआ। पहली सन्तान की मृत्यु हो जाने से मेरे प्रति उनका प्रेम और आसक्ति बन गई। ज्योतिषी ने उन्हे बतलाया था कि उनके लडके नही होगे लेकिन उसके पश्चात तीन लडके हुए। उन्हें लगता था कि लडको का जन्म लडकी की किस्मत के कारण हुआ है। इस कारण भी वह मुझे विशेष रूप से चाहते थे।

प्रेमचदजी ने अपने पुत्रों की तुलना मे आपको विशेष स्नेह प्रदान किया, इसे आप किस प्रकार स्पष्ट करेंगी ?

कमलादेवी दुनिया की दृष्टि म वह चाहे 'उपन्यास-सम्राट' रहे हो मेरी दृष्टि म वह केवल बाबूजी थ। मेरा अपनी मा से अधिक सम्बन्ध नही रहा और न मुझे उनसे उतना स्नेह मिला जितना बाबूजी से । बाबूजी ने मुझपर कभी शासन नही किया। मेरी सभी गलतिया उनके सामने आकर क्षमा हो जाती थी परन्तु पुत्रो की गलतिया उन्होने कभी माफ नही की। श्रीपत सम्भवत ७ वर्ष के रहे होंगे। बाबूजी ने पेंसिल लाने के लिए पैसे दिए थे लेकिन वह रास्ते म कही खो आए। दूसरे दिन श्रीपत ने फिर पैसे मागे तो बाबूजी ने डडी से मारते हुए कहा बताता क्यो नही कि पैसा कहा गया।

क्या कभी ऐसा भी अवसर आया कि प्रेमचदजी ने आपको मारा हो।

कमलादेवी हा, केवल एक बार बाबूजी ने मुझे मारा था। गोरखपुर म

हम रहते थे। घर से स्कूल और कब्रिस्तान पास ही थे। कब्रिस्तान के पास एक अंधा कुआ था। एक दिन महरी का लडका और श्रीपत दोनो साथ साथ खेल रहे थे कि दोनो अंधे कुए मे गिर पडे। मैं भी उन्हे निकालने के खयाल से कुए मे कूद पडी और दोनो को उठाकर चिल्लाने लगी। इधर से ड्राइंग मास्टर साहब जा रहे थे। उन्होने चिल्लाने की आवाज सुनी तो तीनो को निकाला। उन्होंने बाबूजी के सामने पेश करते हुए सारी कथा बतलाई। बाबूजी ने इसपर मुझे दो-तीन तमाचे मारे। आज सोचती हू, बाबूजी ने मुझे ठीक ही मारा था।

क्या यह सच है कि आपकी थोडी सी तकलीफ से ही प्रेमचद भावुक हो उठते थे ?

कमलादेवी एक बार मैं सीढी मे गिर गई थी। अम्मा मुझे उठाने दौडी और बाबूजी कमरे मे जाकर रोने लगे कि यह एक लडकी भी अब न बचेगी। मा ने उन्हे सात्वना दी तब उनके आसू सूखे।

क्या आपने यह अनुभव किया कि प्रेमचदजी लडकी के पालन पोषण मे कुछ अकुश से काम लेते थे ?

कमलादेवी बाबूजी ने सदैव यह ध्यान रखा कि लडकी गलत रास्ते पर न जाए। उन्हें बजनवाली पायल, इत्र, रगीन कपडे लडकियो को पहनाना पसन्द नही था। वह कहते थे, जब बुढिया झमझम करती चली जा रही है। कोई देखना न चाहे तब भी वह दूसरो को देखने के लिए आकर्षित करती है। वह लडकियो को अकेला रखने के पक्ष मे भी नही थे और न लडको के साथ अकेला रहने को तयार थे। अम्मा के जेल जाने पर बाबूजी कमरे मे अकेले सोते थे।

प्रेमचद के पास प्रत्येक प्रकार का साहित्य आता था। कुछ पुस्तकें वह स्वय खरीदते थे, कुछ समीक्षा के लिए आती थी और कुछ लेखक उन्हे बडा लेखक मानकर अपनी पुस्तकें भेजते थे। क्या आपको सभी प्रकार की पुस्तकें पढने की स्वतन्त्रता थी ?

कमलादेवी वह गन्दे साहित्य पढने के बडे खिलाफ थे। आलोचना के लिए सभी प्रकार की किताबें आती थी। जो हमारे पढने की किताबें होती थी वे अलमारी मे लग जाती थी और शेष गन्दी किताबें उनके पीछे रख दी जाती थी। जी० पी० श्रीवास्तव उग्र आदि की किताबें पढाने के पक्ष मे वह नही थे। 'गगा-जमुना' तो उन्होने फाडकर ही फेंक दी थी।

क्या यह सत्य है कि प्रेमचदजी ने आपके विवाह में दहेज दिया और पाच हजार के लगभग रुपये खर्च किए ?

कमलादेवी हा, यह सत्य है कि उन्होंने मेरे विवाह मे दहेज दिया था।

उन्होंने बहुत सा सामान दिया था तथा विवाह में सात हजार रुपये खर्च किए थे। उसी समय कायाकल्प उपन्यास पर एक हजार का इनाम मिला था। बाबूजी ने बायन में अधिक विवाह में रुपया खर्च किया था।

प्रेमचंद ने किस कारण से आपके विवाह में कन्या-दान नहीं किया?

कमलादेवी बाबूजी किसी भी हालत में कन्या-दान करने को तैयार नहीं थे। लखनऊ में हमारे एक पड़ोसी थे डा० एच० एन० भट्ट। उन्होंने जबरदस्ती हाथ पकड़कर बठाया। बाबूजी बैठ तो गए परन्तु कन्या-दान के समय हाथ नहीं लगाया। बाबूजी कहते रहे—यह कोई जानवर है जिसका दान कर दूं। बाद में अम्मां ने कन्या-दान किया।

प्रेमचंद के कुछ समकालीन लेखकों एवं मित्रों ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि शिवरानीदेवी ने सदैव प्रेमचंद पर शासन किया और प्रेमचंद सदैव पत्नी के सम्मुख नम्र बने रहे। आपकी दृष्टि में क्या यह सत्य है?

कमलादेवी हां, यह सत्य है। अम्मा ने सदैव बाबूजी पर शासन किया। अम्मा जो चाहती थी वही होता था। घर का प्रबन्ध अम्मां के अनुसार ही चलता था। अम्मा उन्हें देर रात तक लिखने नहीं देती थी। अम्मा लालटेन बुझा देती तो वह चुपचाप लेट जाते परन्तु अम्मा के सोते ही वह लालटेन जलाकर फिर लिखने बैठ जाते। उन्होंने अनेक बार दूसरे व्यक्तियों की पैसा से सहायता की परन्तु अम्मा को कभी इसके बारे में मालूम नहीं होने दिया। अम्मां की प्रेरणा से ही उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया।

अब मैं आपसे एक अन्तिम प्रश्न करना चाहता हूं। मेरे पास १४ ११ १९३१ का लिखा प्रेमचंद का एक पत्र है जो उन्होंने प० रामदास गौड़ को लिखा था। इस पत्र में आप पर भूत प्रेत के प्रभाव की चर्चा है और प्रेमचन्द ने प० रामदास गौड़ से भूत प्रेत के प्रभाव को दूर करने के लिए अनुष्ठान करने का अनुरोध किया है। इस सम्बन्ध में सही स्थितियों पर प्रकाश डालिए।

कमलादेवी गोयनकाजी, मेरा विवाह हो चुका था। उन दिनों हम लखनऊ के गूंगे नवाब के पार्क के सामने वाले मकान में रहते थे। एक दिन रात को मैंने भयानक सपना देखा। मैं जोर से चीखने लगी। सारा घर एकत्र हो गया। बाबूजी ने मेरे गाल पर तमाचे मारे तब होश आया। मैंने स्वप्न में देखा था—एक बड़ी गहरी और फैली नदी बह रही है। मैं किनारे पर खड़ी हूं। फिरोजी कपड़े पहने दो भयंकर आदमी मुझे पकड़कर नदी में फेंकना चाहते हैं कि तभी चीख के

साथ मेरी नींद खुल जाती है। दिन म भी कुछ ऐसी घटनाए हुइ जिससे मेरी दशा बिगडती चली गई। एक दिन शौच क लिए जान पर लगा जस किसीने पीछे से हाथ मारा है। मैं गिर पडी परन्तु वहा कोइ नही था। उसी दिन शाम का बुआ खाना बना रही थी। मैं ऊपर सीढी के पास खडी थी कि लगा, जैसे कोई धम धम करके ऊपर आया है परन्तु वहा कोई नही था। बस, उस दिन स उत्पात शुरू हो गया। नीद आनी बन्द हो गई। ऐसा प्रतीत होता, जस कोई छाती पर बैठा है। जीभ भिच जाती अनजान म ऊपर-नीच दौड लगाती। प्रतिदिन शाम के ६ ८ बजे यही उत्पात होन लगा। बाबूजी ने पहले तो दवाई कराई फिर गौड जी को भी अनुष्ठान के लिए लिखा। अम्मा ने पूजा-पाठ किया और मौसी न झाड फूक कराई।

उन्होंने बहुत सा सामान दिया था तथा विवाह में सात हजार रुपये खर्च किए थे। उसी समय 'कायाकल्प' उपन्यास पर एक हजार का इनाम मिला था। बाबूजी ने वायदे से अधिक विवाह में रुपया खर्च किया था।

प्रेमचंद ने किस कारण से आपके विवाह में कन्या दान नहीं किया?

कमलादेवी : बाबूजी किसी भी हालत में कन्या-दान करने को तैयार नहीं थे। लखनऊ में हमारे एक पड़ोसी थे डा० एच० एन० भट्ट। उन्होंने जबरदस्ती हाथ पकड़कर बैठाया। बाबूजी बैठ तो गए परन्तु कन्या-दान के समय हाथ नहीं लगाया। बाबूजी कहते रहे—यह कोई जानवर है जिसका दान कर दूं। बाद में अम्मा ने कन्या-दान किया।

प्रेमचंद के कुछ समकालीन लेखकों एवं मित्रों ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि शिवरानीदेवी ने सदैव प्रेमचन्द पर शासन किया और प्रेमचंद सदैव पत्नी के सम्मुख नम्र बने रहे। आपकी दृष्टि में क्या यह सत्य है?

कमलादेवी : हां यह सत्य है। अम्मा ने सदैव बाबूजी पर शासन किया। अम्मा जो चाहती थीं वही होता था। घर का प्रबन्ध अम्मा के अनुसार ही चलता था। अम्मा उन्हें देर रात तक लिखने नहीं देती थीं। अम्मा लालटेन बुझा देतीं तो वह चुपचाप लेट जाते परन्तु अम्मा के सोते ही वह लालटेन जलाकर फिर लिखने बैठ जाते। उन्होंने अनेक बार दूसरे व्यक्तियों की पैसों से सहायता की परन्तु अम्मा को कभी इसके बारे में मालूम नहीं होने दिया। अम्मा की प्रेरणा से ही उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया।

अब मैं आपसे एक अन्तिम प्रश्न करना चाहता हूं। मेरे पास १४.११.१९३१ का लिखा प्रेमचंद का एक पत्र है जो उन्होंने पं० रामदास गौड़ को लिखा था। इस पत्र में आपपर भूत प्रेत के प्रभाव की चर्चा है और प्रेमचन्द ने पं० रामदास गौड़ से भूत प्रेत के प्रभाव को दूर करने के लिए अनुष्ठान करने का अनुरोध किया है। इस सम्बन्ध में सही स्थितियों पर प्रकाश डालिए।

कमलादेवी : गोयनकाजी, मेरा विवाह हो चुका था। उन दिनों हम लखनऊ के गूंगे नवाब के पार्क के सामने वाले मकान में रहते थे। एक दिन रात को मैंने भयानक सपना देखा। मैं जोर से चीखने लगी। सारा घर एकत्र हो गया। बाबूजी ने मेरे गाल पर तमाचे मारे तब होश आया। मैंने स्वप्न में देखा था—एक बड़ी गहरी और काली नदी बह रही है। मैं किनारे पर खड़ी हूं। फिरोजी कपड़े पहने दो भयंकर आदमी मुझे पकड़कर नदी में फेंकना चाहते हैं कि तभी चीख के

साथ मेरी नीं खुल जाती है। दिन म भी कुछ ऐसी घटनाए हुइ जिनसे मेरी दशा बिगडती चली गई। एक दिन शौच के लिए जाने पर लगा जसे किसीन पीछे से हाथ मारा है। मैं गिर पडी, परन्तु वहा कोई नहा था। उसी दिन शाम का बुग्रा खाना बना रही थी। मैं ऊपर सीढी के पास खडी थी कि लगा, जस कोई धम धम करके ऊपर ग्राया है परन्तु वहा कोई नहीं था। बस, उस दिन से उत्पात शुरू हो गया। नीद मानी बन्द हो गई। ऐसा प्रतीत हाता, जस कोई छाती पर बठा है। जीभ भिंच जाती ग्रनजान म ऊपर-नीच दौड लगाती। प्रतिदिन शाम के ६ ८ बजे यही उत्पात होने लगा। बाबूजी न पहले तो दवाई कराई, फिर गौड जी को भी ग्रनुष्ठान के लिए लिखा। ग्रम्मा ने पूजा-पाठ किया ग्रौर मौसी न झाड फूक कराई।

प्रेमचदजी की पटना-यात्रा

• केशरीकिशोर शरण

१६३१ नवम्बर की २१वा तारीख। शाम का वक्त साढ छ बजे पश्चिम से आनवाली एक्सप्रेस पटना जक्शन पर अभी लगी हुई थी। प्रेमचदजी आज पटना आने वाले थे और उन्होंके स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पहुचे हुए थे, परन्तु हममे से किसीने उन्हें देखा न था इसलिए बडी चिन्ता थी उन्हें कसे पहचाना जाएगा। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का प्रथम सस्करण हाल मे ही निकला था। उसमे प्रेमचदजी की एक तस्वीर थी। चौडा गोल मुह, उभरा हुआ ललाट वडी बडी धनुषाकार घनी मूछें। पोशाक भी सोफियाना थी। फलनेल का पट मफलर और कोट। इसी तस्वीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आए थे। प्रेमचदजी जसे महान कलाकार की रूप रेखा हमारे मन मे इनसे कही अधिक भव्यतर और रोबीली थी।

रेलगाडी आई और सकेंड क्लास इटर फस्ट क्लास के सभी डिब्बे हम लोगो ने देख लिए पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नजर नही आया। तब थड क्लास की बारी आई। गाडी का डिब्बा डिब्बा हम लोगो ने छान डाला पर मुसाफिरो मे कोई हिन्दी का औपन्यासिक सम्राट न निकला। रेलवे मेल सर्विस के आफिस के पास अचानक उसी शक्ल और पोशाक का एक मुसाफिर दीख पडा। हम लोग दौडकर उनके पास जा पहुचे, 'क्या जनाब, आप लखनऊ से आ रहे हैं ?'

'नही तो !'

हमारे वेतुके प्रश्न पर वह कुछ झुभला-से पडे और हम लोग अपनी झेंप मिटाने के लिए मुसाफिरो की जमात मे फुर्ती से मिल गए।

और वह सज्जन प्लेटफाम पार कर रेलवे लाइन की बगल बगल सीधे जाने लगे। थोडा-सा सफरी सामान था जो एक कुली के सिर पर था।

गाडी जब चली गई तो हम लोगो ने सोचा उनसे यह तो पूछा ही न गया कि आप प्रेमचद हैं ? मुमकिन है, प्रेमचदजी लखनऊ से न होकर बनारस से आ

रहे हो ।

हम लोग फिर दौड पडे और गुमटी के पास जाकर उन्हें रोका, "क्या जनाब, आप बनारस से आ रहे हैं ?"

अबकी वह हस पडे । उन्होंने पूछा 'आखिर बात क्या है ?'

"प्रेमचदजी इसी गाडी से आने वाले थे और उनका चेहरा आपसे मिलता-जुलता-सा है । क्षमा कीजिएगा ।"

'मैं प्रेमचद नहीं हू ।'

और वह चल पडे ।

दो घटे के बाद पजाब मेल आई । इस बार भी हम लोगों ने बडी तत्परता के साथ खोज की । तीन चार साहब उतरे, दो एक हिन्दुस्तानी भी—मतलब, हिन्दुस्तानी लिबास वाले पर उनमें से कोई हमारी कल्पना का हमारी किताब की तस्वीर का प्रेमचद न निकला ।

सभी मित्र हताश और निरुत्साह घर लौट चले । मेरी आखो तले अधेरा छा गया । पटना हिन्दी साहित्य परिषद का मन्त्री मैं था मेरे ही निमन्त्रण पर प्रेमचदजी आने वाले थे । शहर मे इसकी बडा धूम थी । विज्ञापन भी खूब किया गया था । अब अगर वह नही आए तो जनता को मैं कैसे मुह दिखाऊगा ! एक तो पटना जैसी मनहूस जगह पर साहित्यिकों की अकृपा बराबर रहती है, कभी कोई साहित्यिक यहा नहीं आता फिर प्रेमचद जैसे व्यक्ति का आना तो बिलकुल असभव था । उन्हे पटने के निवासियो ने कई बार बुलाया था पर वह बराबर अस्वीकार कर देते थे फिर भी मेरी मेहनत पर लोगो को भरोसा था और इसी लिए लोगो का विश्वास था कि प्रेमचद अवश्य आएगे । आज यह विश्वास भी जाता रहा । मैं इसी उधेड बुन मे रात भर बेचैन रहा । तबीयत रह रहकर झुझला उठती थी । प्रेमचद जैसे सहृदय, गरीबो के सहायक निरीहो के हमदर्द कलाकार मेरी बेबसी और बदनामी की कल्पना नहीं कर सके । अफसोस !

रविवार की शाम को बैठक थी और सवेरे ६ बजे के करीब एक एक्सप्रेस आती थी । बस यही आखिरी आसरा था । स्टेशन पर ठीक वक्त पर जा पहुचा । श्रीकृष्णगोपाल अवस्थी भी आ गए थे ।

ट्रेन आई लगी और चली गई । सैकडो आदमी उतरे और चढे, पर प्रेमचद नहीं आए नहीं आए । हम दोनो मुसाफिरखाने की तरफ बढे । देखा, सीढी के पास एक अधेडवय सज्जन, जिनके बाल कुछ सफेद हो चले थे और सफर की थकावट से कुछ खिन्न से हो रहे थे गुम-सुम खडे हैं और कुली उनका ट्रक सिर पर और बिस्तरा हाथ मे लिए पूछ रहा है, 'बाबू कहा चलें ?'

इस मुसाफिर को कल रात ही को पजाब मेल से उतरते देखा था, नजदीक जाकर पूछा 'क्या जनाब आप लखनऊ से आ रहे हैं ?'

'हा भाइ लखनऊ से ही श्रा रहा हू ।

"श्राप प्रेमचदजी हैं ?"

' हा, प्रेमचद हू ।

स्वर उनका कुछ कठोर हो पडा था । मैंने प्रणाम करते हुए उनके हाथ से मले खद्दर के रूमाल म बधे पीतल क लोटे को ले लिया श्रौर श्रत्यन्त ग्लानि के साथ कहा, ' मैं केशरीकिशोर हू ।

उनके चेहर पर किंचित क्रोध, निश्चित सतोप श्रौर प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पडी । पर कोई शब्द उनके मुह स न निकला । तब तक फिटन श्रा लगी । श्रौर हम तीनो उसपर चढ बठे । कुली को पस देकर मरे मित्र ने विदा कर दिया श्रौर फिटन चल पडी ।

मरा मन गव स खुशी स, सकोच श्रौर ग्लानि से ऐसा भर गया था कि मैं यह भी न पूछ सका—रास्त में कोई तक्लीफ तो न हुई ?

तब तक वह भी कुछ स्थिर श्रौर सतुष्ट-स दीख पड ।

हिम्मत बढी । पूछा ' रास्त म कोई तक्लीफ तो नही हुई ?"

तक्लीफ ? मैं तो रात भर इसी पशोपेश म पडा रहा कि रह या लौट जाऊ। रात पजाब मल से उतरा। श्राप लोगा के दशन नही हुए तो मुसाफिर-खान मे जाकर पड रहा । तबीयत बहुत झुझला रही थी । जब यहा कोई पूछने-वाला नही तो किसलिए ठहरू ? ढाई बजे रात की गाडी म लौट चलन की इच्छा हुइ । रिटन टिक्ट था ही । प्लेटफाम पर गया गाडी श्रा लगी । पर चढ नही सका । सोचा, तुम्ह दु ख होगा

उनके इस स्नह को पाकर मैं निहाल हो गया । मरे मुह से श्रचानक निकल पडा श्राप पजाब मेल से उतरे लेकिन मैं पहचान नही सका ।

वही तो मैं कहता हू —उनकी श्रावाज कुछ तीव्र हो पडी, 'जब तुम मुझे नही पहचानते थ श्रौर न मैं तुम्हे, तो प्रमचद कहकर पुकारते । इसम मेरी इज्जत थोडे कम हो जाती ।

मैं क्या जवाब देता ! चुप हो रहा ।

प्रेमचदजी मेरे श्रामत्रित थे । मैं उन्हे श्रपने यहा ठहराना चाहता था श्रौर पटना के कई बडे बडे लोगा का श्राग्रह था मैं उन्ह उनके यहा ठहराऊ । इच्छा तो मेरी नहीं थी फिर भी उनके मन की थाह लन की गरज से मैंने पूछा ' श्राप डा० हरिचन्द शास्त्री के यहा ठहरेंगे या मेरी सेवा स्वीकार करेंगे ? (डाक्टर साहब पटना कालेज हिन्दी साहित्य परिपद क सभापति थे ।)

मुझे डाक्टर क साथ क्या करना है ? उन्होंने तुरत जवाब दिया, 'मैं तुम्हारे बुलाने स श्राया हू श्रौर तुम्हारे ही यहा ठहरूगा ।

मुझे मुहमागी मुराद मिल गई ।

घर पहुचे । थोडी देर आराम करने के बाद वह मेरी पढने की पुस्तकें देखने लगे। मैं तो जानता ही था । कुछ तो सचमुच मेरी पढनेवाली किताबें थी और कुछ उनपर रोब गालिब करने के लिए दूसरा स मागकर सजा रखी थी ।

देश विदेश के कुछ चुने हुए उपन्यास थे और आलोचना की पुस्तकें थी । उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुए । बोले, "खूब पढा करो । तुम्हारी आलोचनाओ को बडे ध्यान स पढता हू '

'लेकिन आप तो आलोचनाओ को पसन्द नही करते । आप तो कहते हैं, 'असफल लेखक समालोचक बन बैठा ।'' (यह वाक्य उनके 'सेवासदन का था । उसीपर मेरा संकेत था।)

वह हस पडे ।

"इसीलिए त कहता हू, खूब पढा करो । हिन्दीवाला मे यही मज है कि वह अध्ययन बिल्कुल नही करत ।"

और तब शेल्फ मे स एक किताब निकालकर पढने लगे—Forester की Aspects of the Novel । और मैं सभा का प्रबन्ध करने के लिए कालेज चला गया । डेढ घटे बाद लौटकर आया तो देखा, ढाइ सौ पृष्ठ की पुस्तक समाप्त कर वह मुझसे उसपर डिस्कशन (विवाद) के लिए तैयार बैठे हैं ।

मैं बगलें झाकने लगा । एक तो मेरा अध्ययन उतना गहरा नही दस बीस किताबें पढ ही लेन से मैं कोई विद्वान तो नही हो गया, फिर उपन्यास कला पर बहस करू उनसे, जिनकी रचनाओ के आधार पर ही उपन्यास कला की इमारत खडी होनी है ।

मैंने पिंड छुडाना चाहा । कहा, चलिए ड्राइगरूम मे बैठा जाए । यहा कुछ सर्दी-सी लग रही है ।

वह ड्राइगरूम म चल आए। रेशम की गद्देदार कुर्सिया को देखकर अनायास बोल पडे, ' यह सब सिर्फ हाय हाय है ।

मैंने पूछा ' क्यो ?'

"रहे तब भी हिफाजत की चिन्ता नष्ट हो जाए तब भी चिन्ता । मनुष्य को इस चिन्ता स बचना चाहिए । जिन्दगी मे अपना ही दु ख कौन कम है कि नई बला मोल लें '

इसी समय मेरे भाइ साहब आ गए । आप पटना विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र और राजनीति के प्रोफेसर हैं । विलायत के पढे हुए । उनसे राजनीति पर बहस छिड गई । मुझे खुशी हुई उपन्यास कला की विवेचना से तो नजात मिली । चुपके से खिसक गया । प्रेमचदजी कोरे उपन्यास-लेखक न थे । वह पालिटिक्स भी अच्छी जानते थे । इस विषय मे उनकी पहुच देखकर मेरे भाई ने मुझसे कहा—premchand seems to be an allround scholar

दोपहर को पटना म्यूजियम देखने के लिए हम लोग चल पडे। मौर्य काल और गुप्त काल के शिलालेख मूर्तियां, वलन सिक्के वगैरह सब दिखलाए। वह बच्चों की तरह उन चीजों को देखते जा रहे थे। कौतूहल उन्हें कुछ होता था, पर कोई खास दिलचस्पी उन्होंने नहीं दिखलाई। हां जब स्वास्थ्य विभाग की ओर गए और बिहार के गांवों का मिट्टी का बनाया हुआ स्वच्छ देखा तो रुक गए। कोल भीलों की पारिवारिक मूर्तियों को भी बड़े गौर से देखने लगे और बोले 'हम इन समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिए। इन जंगली लोगों को सभ्य बनाना चाहिए। हजार वर्ष पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीजों से हमें क्या लाभ? हमें तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए।

जब हम वहां से वापस होने लगे तो वह बोले 'आज तुम्हारे कालेज के कुछ लड़के आए थे संदेश के लिए। मैंने बतलाया—संतोष ही जीवन का सबसे बड़ा धन है।

मैं चुप था।

'क्या नहीं?' उन्होंने मेरी अविश्वास जैसी मुद्रा को देखकर पूछा 'कभी तुमने इसपर गौर किया है? बात छोटी-सी मालूम होती है लेकिन बड़े होकर जानोगे यह कितना बड़ा सत्य है।

मैं बहस नहीं करता पर मुंह से निकल ही गया 'संतोष से तो जीवन की क्रियाशक्ति ही नष्ट हो जाएगी। मेरी समझ में तो यह अभाव है आकांक्षा और असंतोष की आग है जिसमें क्रांति होती है आन्दोलन होते हैं। संतोष से जीवन निश्चेष्ट हो जाएगा और निश्चेष्ट जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर है?'

वह गम्भीर हो गए। कुछ देर तक मेरी बात पर गौर करते रहे और बोले 'सामूहिक रूप से संतोष अच्छा है पर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में असंतोष का फल अच्छा नहीं होता। आन्दोलन के नेताओं को ही देखो—वह निस्पृह रूप से काम करते हैं। वे जानते हैं उनके छोटे जीवन में उनका आन्दोलन सफल नहीं हो सकता फिर भी उन्हें संतोष है, वह अपना काम तो कर रहे हैं। जननी जन्म भूमि की रक्षा में अपनी जान तो दे रहे हैं। यही संतोष उनका सबसे बड़ा बल है।

प्रेमचंदजी का शुभागमन एक अपूर्व घटना थी। पटना के लिए वह दिन सोने के अक्षरों में लिखा जाने लायक था। जनता की अपार भीड़ उत्सुकता श्रद्धा और भक्ति देखकर प्रेमचंदजी भी विह्वल हो गए थे। उन्होंने कहा 'बिहारियों का हृदय सचमुच महान है। उनकी जैसी दरियादिली मुझे कहीं न मिली। यू० पी० में भी मीटिंगें होती हैं। बड़े-बड़े विद्वान आते हैं। पर उपस्थिति सौ-दो सौ से अधिक नहीं होती। हां तमाशे की बात मैं नहीं कहता।"

प्रेमचंद पटने से प्रसन्न विदा हुए, और मुझ सबदा के लिए आत्मीयता के

धान म बाध गए। तब म गत छ वष का हमारा सबध सस्मरण की चीज नहा, मेरे जीवन का इतिहास है। हर साल पूजा की छुट्टिया म मैं बनारस जाया करता था और उनस बराबर मिलता। एक बार उन्होने अगस्त मे लिखा था, 'पूजा की छुटि्टया तो अभी बहुत दूर हैं, लकिन अभी स तुम्हारी बाट जोह रहा हू।

कहानी-लेखक प्रेमचद से भी बढकर प्रिय मनुष्य प्रेमचद थे। उनके जैसा निस्पह, उदार, सद्भावना और सवेदना स पूण मनुष्य मुझे नही मिला। बडे लोगा म एक जबदस्त ऐब होता है। दूर से उनका व्यक्तित्व बडा आकषक और प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है। परन्तु उनके समीप आते ही उनका भीतरी राज खुलन लगता है और उनके 'अहम' को देखकर श्रद्धा के बदले घृणा उत्पन्न हो जाती है। प्रेमचन्दजी का बाहर भीतर एक समान था। उनसे घनिष्ठता करने पर उनके हृदय की गहराइ के खुलने पर प्रशसा, श्रद्धा और भक्ति स मस्तक अनायास झुक जाता था। बाह्य स भी सरल, सच्चाई से भरी हुई आडम्बर-शून्य उनकी आत्मा थी।

प्रेमचद के निधन से सारा राष्ट्र सतप्त है। उनके बिना हिन्दी अकिंचन सामर्थ्यविहीन और श्रीहीन है। पर उससे भी अधिक अकिचन निरीह और निरुपाय मैं अपने को पा रहा हू। उन्हीकी वरद छाया म मुझे फूलने फलन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अब वह नहीं रह तो मैं कहा का न रहा। लेकिन अपनी बदनसीबी पर बठकर मैं आसू बहाऊ ?

अभाव उपेक्षा और असहिष्णुता का ठुकराया हुआ वह प्राणी मरत दम तक सतोष का सदेश सुनाता गया।

वेतकल्लुफ दोस्त

● चतुरसेन शास्त्री

यह बात सन १६२७ २८ की है। उन दिना लखनऊ म मेरा आरोग्य शास्त्र छप रहा था। उस सिलसिले म कोई डेढ साल लखनऊ रहा। तभी एक दिन मैं प्रेमचद स मिलने उनके घर गया। इसस प्रथम मैंन उन्हें नहीं देखा था। अमीना बाद के एक खस्ताहाल चौबारे पर वह रहते थे। सुबह के वक्त जब मैं पहुचा वह शायद गोदान लिख रह थे। एक ही कमरे का मकान था। कमरे के बीचो बीच रस्सी बाधकर एक रजाई उसपर लटका दी गई थी। इसस कमरा दो हिस्सा म बट गया था। सामन प्रेमचद एक शतरजी बिछाए एक चौकी सामन रखे लिख रह थे। पीछे के हिस्से म बैठी उनकी पत्नी अपनी गिरस्ती चला रही थी। शायद खाना बना रही थी। उन दिना परदा करती थी। मेरे पहुचन पर प्रेमचद न चौकी पर फन कागजात एक ओर समट दिए और गप शप करना शुरू किया। बातचीत उनकी शानदार होती थी। उसमे यारबाशी, मिलनसारी और हसी मजाक का पुट रहता था। मैं पहली ही बार उनके घर गया था पर दो चार मिनट म एसा भान होन लगा कि किसी बेतकल्लुफ पुरान दोस्त म बातें हो रही हैं। बातचीत म भी कोई गहरा साहित्यिक पुट न था इधर उधर की बातें ही अधिक थी। मेरे यह पूछने पर भी कि यह क्या लिखा जा रहा है उन्होंने टाल टूल करके कहा यो ही कुछ लिख रहा हू।

उस दिन भी और उसके बाद भी मैंन देखा कि वह अपनी रचना पढकर किसीको नही सुनात थ। दम्भ का अभाव और सकोच ही इसका कारण था। मुलाकात क दौरान वह दर तक जनेन्द्र की चर्चा करत रहे। एक खद्दर का कुरता वह पहन थे। थोडी दर बाद ही जस एकाएक याद करके नीच दौड गए और पान ले आए।

बाद म तो फिर बहुत मुलाकातें हुई। जब तक लखनऊ रहा, दूसर चौथे मिलता ही रहता था। वह मकान भी उन्हाने बदल दिया था। गणशगज की तरफ एक मकान म उठ गए थ। उन दिना शायद वह माधुरी' म काम करते थे।

'माधुरी आफिस मे भी कई बार जाकर मैं उनसे मिल लेता था। 'माधुरी' कार्यालय मे प्रेमचद क्लर्कों और कर्मचारियों की पक्ति के बीच सिर झुकाए काम मे सलग्न दिखते थे।

स्वभाव उनका बडा आग्रही और विनोदी था। सरलता उनके स्वभाव की विशेषता थी। 'आरोग्य शास्त्र' मेरा छपकर तयार होने लगा तो हर मुलाकात मे वह कहना न भूलते कि भई, एक कापी मुझे देना न भूलना। मैं हा हू कर देता, वास्तव मे टालना ही चाहता था। बारह रुपये की किताब मैं उन्हें मुफ्त देना नही चाहता था। फिर उन्होने मेरे घर पर चक्कर ही लगाने शुरू किए, "भई वह किताब नही पहुची क्या बात है?" मैं कहता, 'जिल्दबन्दी हो रही है, तैयार होने पर भेजूगा। तो चट कहा, 'एसे ही दे दो, जिल्द मैं बधवा लूगा।' बिलकुल बच्चा जसी हठ सकोचहीन मुस्कराहट स भरी हुइ। बच्चो मे और उनमे अन्तर इतना ही कि बच्चा के छोट छोट सरल मुख बिना दाढी मूछो के, किन्तु प्रेमचद के मुख पर बच्चों की तरह उपद्रव सा मचाती हुई घनी मूछें जो बाद मे गगा-जमनी हो गई थी, पर उन दिनो गहरी काली थी। माथे मे चिन्ता और चिन्तन की लकीरो से भरा हुआ मुह। आखिर पुस्तक लेकर ही टले। पुस्तक लेकर खूब खुश हुए खिलखिलाकर हसे।

एक बडी बात जो मैंने प्रेमचद मे देखी, वह यह थी कि स्वय उनमे कही अभाव का दद न था, उनकी रचनाए ही अभावव्यजक हैं। अभावग्रस्तो के वह बडे हिमायती थे। मैंने उन्हे सदव ही अभावग्रस्त पाया। पर अभाव ने कहीं उनकी चेतना पर चोट की है, यह मैंने नहीं देखा। उन्हीं दिनो उन्होने प्रेस की इल्लत बाध ली थी, 'हस' नाम का पत्र निकालना भी आरम्भ किया था। ये दोनो चीजें उनकी जान का बवाल थीं। मैंने इनके कारण उन्हें बहुत-बहुत परेशान देखा। पर वह परेशानी एक डाक्टर की जसी परेशानी थी रोगी जसी नही। दूसरे शब्दो मे वह अभाव से लडते तो रहे पर कभी उसे अपने ऊपर उन्होंने चोट न करने दी। बस वह एक मद आदमी थे। दोस्ती के काबिल किन्तु सदव असावधान! मेरा खयाल है कि यदि उन्हें कहीं से बहुत सा रुपया मिल भी जाता तो भी वह अमीर नही हो सकते थे और न उनके अभावो की पूर्ति ही हो सकती थी। अभाव ही उनकी सारी जमा पूजी थी। उसीपर वह जीवन भर अपने साहित्य का कारोबार करते रहे।

बेतकल्लुफ दोस्त

● चतुरसेन शास्त्री

यह बात सन १९२७ २८ की है। उन दिनो लखनऊ म मेरा 'आरोग्य शास्त्र' छप रहा था। उस सिलसिले म कोई डेढ साल लखनऊ रहा। तभी एक दिन मैं प्रेमचद से मिलने उनके घर गया। इससे प्रथम मैंने उन्ह नही देखा था। अमीनाबाद के एक खस्ताहाल चौबारे पर वह रहते थ। सुबह के वक्त जब मैं पहुचा, वह शायद गोदान लिख रहे थे। एक ही कमरे का मकान था। कमरे के बीचो बीच रस्सी बाधकर एक रजाई उसपर लटका दी गई थी। इससे कमरा दो हिस्सा म बट गया था। सामन प्रेमचद एक शतरजी बिछाए एक चौकी सामन रखे लिख रह थ। पीछे के हिस्स म बैठी उनकी पत्नी अपनी गिरस्ती चला रही थी। शायद खाना बना रही थी। उन दिनो परदा करती थीं। मेरे पहुचने पर प्रेमचद न चौकी पर फले कागजात एक ओर समेट दिए और गप शप करना शुरू किया। बातचीत उनकी शानदार होती थी। उसमे यारबाशी मिलनसारी और हसी मजाक का पुट रहता था। मैं पहली ही बार उनके घर गया था पर दो चार मिनट म एसा ज्ञात होन लगा कि किसी बेतकल्लुफ पुराने दोस्त स बातें हो रही हैं। बातचीत म भी कोई गहरा साहित्यिक पुट न था इधर उधर की बातें ही अधिक थी। मर यह पूछने पर भी कि यह क्या लिखा जा रहा है उन्होंने टाल टूल करके कहा 'यों ही कुछ लिख रहा हू।

उस दिन भी और उसके बाद भी मैंन देखा कि वह अपनी रचना पढकर किसीको नही सुनात थे। अहं का अभाव और सकोच ही इसका कारण था। मुलाकात के दौरान वह देर तक जैनेन्द्र की चर्चा करते रहे। एक खद्दर का कुरता वह पहन थ। थोडी दर बाद ही जस एकाएक याद करके नीच दौड गए और पान ले आए।

बाद म तो फिर बहुत मुलाकातें हुई। जब तक लखनऊ रहा, दूसरे चौथ मिलता ही रहता था। वह मकान भी उन्होंने बदल दिया था। गणेशगज की तरफ एक मकान म उठ गए थ। उन दिनो शायद वह माधुरी म काम करते थ।

'माधुरी' आफिस में भी कई बार जाकर मैं उनसे मिल लेता था। 'माधुरी' कार्यालय में प्रेमचंद क्लर्कों और कर्मचारियों की पंक्ति के बीच सिर झुकाए काम में संलग्न दिखते थे।

स्वभाव उनका बड़ा आग्रही और विनोदी था। सरलता उनके स्वभाव की विशेषता थी। 'आरोग्य शास्त्र' मेरा छपकर तैयार होने लगा, तो हर मुलाकात में वह कहना न भूलते कि भई एक कापी मुझे देना न भूलना। मैं हां-हूं कर देता, वास्तव में टालना ही चाहता था। बारह रुपये की किताब मैं उन्हें मुफ्त देना नहीं चाहता था। पर उन्होंने मेरे घर पर चक्कर ही लगाने शुरू किए, 'भई वह किताब नहीं पहुंची, क्या बात है?' मैं कहता, जिल्दबन्दी हो रही है, तैयार होने पर भेजूंगा। तो चट कहा एसे ही दे दो, जिल्द मैं बंधवा लूंगा। बिलकुल बच्चों जैसी हठ संकोचहीन मुस्कराहट से भरी हुई। बच्चों में और उनमें अंतर इतना ही कि बच्चों के छोटे छोटे सरल मुख बिना दाढ़ी मूछों के किंतु प्रेमचंद के मुख पर बच्चों की तरह उपद्रव-सा मचाती हुई घनी मूछें, जो बाद में गंगा-जमनी हो गई थीं पर उन दिनों गहरी काली थीं। साथ में चिंता और चिंतन की लकीरों से भरा हुआ मुंह। आखिर पुस्तक लेकर ही टले। पुस्तक लेकर खूब खुश हुए खिलखिलाकर हंसे।

एक बड़ी बात जो मैंने प्रेमचंद में देखी वह यह थी कि स्वयं उनमें कहीं अभाव का दर्द न था, उनकी रचनाएं ही अभावव्यंजक हैं। अभावग्रस्तों के वह बड़े हिमायती थे। मैंने उन्हें सदैव ही अभावग्रस्त पाया। पर अभाव ने कहीं उनकी चेतना पर चोट की है यह मैंने नहीं देखा। उन्हीं दिनों उन्होंने प्रेस की इल्लत बांध ली थी, 'हंस' नाम का पत्र निकालना भी आरम्भ किया था। ये दोनों चीजें उनकी जान का बवाल थीं। मैंने इनके कारण उन्हें बहुत-बहुत परेशान देखा। पर वह परेशानी एक डाक्टर की जैसी परेशानी थी, रोगी जैसी नहीं। दूसरे शब्दों में वह अभाव से लड़ते तो रहे पर कभी उसे अपने ऊपर उन्होंने चोट न करने दी। बस वह एक मर्द आदमी थे। दोस्ती के काबिल किन्तु सदैव असावधान। मेरा ख्याल है कि यदि उन्हें कहीं से बहुत-सा रुपया मिल भी जाता तो भी वह अमीर नहीं हो सकते थे और न उनके अभावों की पूर्ति ही हो सकती थी। अभाव ही उनकी सारी जमा पूंजी थी। उसीपर वह जीवन भर अपने साहित्य का कारोबार करते रहे।

मेरे संस्मरण

० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सन् १९३२ के नवम्बर महीने में मुझे बनारस जाना था। उससे पूर्व सिर्फ एक बार वह भी सिर्फ एक दिन के लिए स्वर्गीय प० पद्मसिंहजी के साथ मैं बनारस गया था। शर्माजी साथ थे इसलिए तब वहां जरा भी दिक्कत नहीं हुई थी। शर्माजी के निकट हर समय महफिल का-सा वातावरण बना रहता था, इससे वह यात्रा तो बड़े मजे की हुई। परन्तु सारा दिन बनारस में रहने पर भी वहां की भौगोलिक स्थिति से मैं अपरिचित ही रहा। इसी कारण लाहौर से चलते समय मैंने हिन्दी के सबसे महान साहित्यकार मुन्शी प्रेमचन्दजी के नाम इस आशय का पत्र डाल दिया कि मैं अमुक तारीख को बनारस पहुंच रहा हूं और यह भी कि बनारस से मेरा परिचय शून्य के बराबर है।

तब तक प्रेमचन्दजी से मेरा घनिष्ठ परिचय नहीं था। गुरुकुल कांगड़ी में वे दो चार दिन रह थे तब उसके बाद सन १९३१ में उनकी प्रथम दिल्ली-यात्रा के दिनों में उनसे मिलते जुलते रहने का मुझे काफी अवसर मिला था। परन्तु यह परिचय इतना घनिष्ठ नहीं था कि मैं उनके यहां ठहरने की इच्छा कर सकता। मुझे बताया गया था कि युक्त प्रांत में बिना अत्यधिक निकट का सम्बन्ध हुए किसीको अपने घर पर ठहराने की प्रथा नहीं है। और यह भी मुझे मालूम था कि बड़े शहरों में अच्छे होटलों की कमी नहीं है। फिर भी मुलाकात कुछ समय तक उनके अत्यंत निकट रहने के प्रलोभन से मैंने उन्हें वह पत्र लिखा था।

एक दिन का भी विलम्ब किए बिना उन्होंने मेरे पत्र का जवाब दे दिया। उन्होंने लिखा कि उन्हीं दिनों किसी काम से वह लखनऊ जाना चाहते थे मगर अब वह उस प्रोग्राम को मुल्तवी कर देंगे। तुम मेरे यहां ठहरोगे तो इससे मुझे बड़ी खुशी होगी। और साथ ही अपने बनिया पार्क वाले लाल मकान का पता भी उन्होंने मुझे समझाकर लिख दिया।

उन दो-तीन दिनों में प्रेमचन्दजी को मैंने बहुत निकट से देखा। उनके खुल कर ऊंचा हंसने की आदत से तो मैं पहले भी परिचित था, परन्तु उनकी हंसी के

पीछे कितनी पवित्र और सरल आत्मा विद्यमान है यह मैंने उनके निकट रहकर ही अनुभव किया। मैंने देखा, उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय में किसी भी तरह की सांसारिक, राजनीतिक या सामाजिक रूढ़ियों के प्रति मोह नहीं है। धर्म, जाति या देश की सीमाओं को तोड़कर वह महान कलाकार सभी अवस्थाओं में मनुष्य के लिए उदार और अनुभूतिपूर्ण बनकर रहता है।

गुरुकुल कांगड़ी में मैंने देखा था कि प्रेमचंदजी बहुत बार काफी अन्यमनस्क-से हो जाते हैं। एक मीटिंग में वह सभापति थे। कोई सज्जन भाषण कर रहे थे और सभापति महोदय का ध्यान अन्तर्मुखी हो गया। काफी समय तक उन्हें खयाल ही न रहा कि वह कहां और क्यों बैठाए गए हैं। यही कुछ देखकर मेरा खयाल बन गया था कि प्रेमचंदजी को बातचीत करने का विशेष शौक न होगा। परन्तु मेरी वह धारणा नितान्त गलत सिद्ध हुई। मैंने देखा कि उन्हें अत्यन्त मनोरंजक ढंग से बातचीत करने की कला आती है। सिर्फ उन्हें खुल जाने का अवसर मिलना चाहिए। हां, किसी किसी समय अन्यमनस्कता कलाकारों का विशेष अधिकार है।

अपनी उसी बनारस यात्रा में मैं 'आज' के सम्पादक श्री बाबूराम विष्णु पराड़कर से भी मिलना चाहता था। जब प्रेमचन्दजी से मैंने इस बात का जिक्र किया तो उन्होंने कहा—'चलो, मैं भी साथ ही चलूंगा।'

मुझे लेकर वह 'आज' कार्यालय पहुंचे। 'आज' कार्यालय के अनेक कार्यकर्ता प्रेमचंदजी को पहचानते थे। उन्होंने पराड़करजी को उनके आगमन की सूचना दी। पराड़करजी उठकर बाहर आए और हम लोगों को भीतर ले गए। प्रेमचंदजी ने मेरा परिचय उनसे कराया और प्रथम परिचय की रस्मों के बाद पराड़करजी ने प्रेमचंदजी से कहा—'पिछले पन्द्रह बरसों से मेरी आपसे मिलने की जबरदस्त इच्छा थी। आज आपने बड़ी कृपा की।'

प्रेमचन्दजी ने मुस्कराकर कहा—'मेरा भी यही हाल था। बरसों से इच्छा थी और आज इनकी मेहरबानी से चला ही आया।'

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने अत्यधिक अचरज भरे स्वर में पूछा, 'क्या आप दोनों आज पहली बार ही एक-दूसरे से मिल रहे हैं?'

प्रेमचंदजी खिलखिलाकर हंस पड़े। वही पवित्र और सरल हंसी। पराड़कर-जी ने कहा, 'काम-काज के जंजाल में इतना फंसा रहता हूं कि कभी कहीं आने-जाने की फुरसत ही नहीं मिलती।'

परन्तु मेरे लिए यह बात आखिर तक एक आश्चर्य का विषय रही कि इतने बरसों से बनारस में रहते हुए भी ये दोनों सज्जन कभी एक दूसरे से मिल क्यों न सके।

विदेशी उपन्यास, प्रेमचंदजी के विगत जीवन की घटनाएं और उनके

व्यापारिक अनुभव हम लोगो की बातचीत के मनोरजक विषय थे। मैंने देखा कि प्रेमचदजी अपने को अपने व्यवहार और कारोबार म पथक और ऊचा रखकर खुद अपनी कीमत पर अपना और दूसरा का मनोरजन कर सकते हैं। और यह बहुत बडा गुण है।

प्रेमच जी का पारिवारिक जीवन मुझे पर्याप्त सुखी, शात और सतोषपूर्ण अनुभव हुआ। उनम, उनकी पत्नी म और उनके बच्चों में परस्पर यथष्ठ मधुरता मैंने पाई। परन्तु जो भोजन वह करत थे वह मुझे बहुत दोषपूर्ण प्रतीत हुआ। उनके भोजन म ताजा और कच्ची सब्जिया फलों तथा दही का सवथा अभाव था।

इस यात्रा क छ महीने बाद ही कलकत्ते जात हुए कुछ घण्टा के लिए मैं बनारस उतरा और अब की बार किसी तरह की सूचना दिए बिना ही प्रेमचदजी के यहा जा पहुचा। उस दिन बनारम म बहद गरमी थी। थोडी ही देर मे हम लोग दशाश्वमेध घाट की ओर सैर के लिए चल दिए।

इसस कुछ ही दिन पूव किसी सज्जन ने प्रेमचदजी की रचनाओ के खिलाफ कुछ लेख काफी महत्त्वपूण ढग स प्रकाशित कराए थे। उन लेखो का जिक्र चला तो मैंन कहा कि मैं उन आक्षेपो के उत्तर के रूप म कुछ लिखना चाहता हू। प्रेमचदजी खिलखिलाकर हस पडे और कहा 'जब कोई कमजोर आदमी जबर दस्ती किसी पहलवान स भिड पडे तो उसके लिए सबसे बडी सजा यही है कि दूसर लोग बीच मे पडकर उन्हें जुदा न कर दें।'

अपन एक मित्र के लिए कानपुर से काफी बढ़िया चमडे का सूटकेस मैं एक ही दिन पहल खरीदकर लाया था। घर पहुचकर प्रेमचदजी की निगाह उस पर पडी और खूब खिलखिलाकर हस लेने के बाद उन्होने कहा 'यदि कभी मैं इतना बढिया सूटकेस लेकर सफर पर निकलू, तो चोरी के डर से सारी रात जागत ही बीते।

उसक बाद अनेक बार प्रेमचदजी से मिलने का अवसर मिला। गत वष फरवरी मास म कलकत्ता जाते हुए सिफ, उन्हीसे मिलने की इच्छा से मैं कुछ घण्टों के लिए बनारस उतरा था। पिछले एप्रिल मे आय प्रतिनिधि-सभा पजाब की अद्ध शताब्दी पर विशेषत मेरे निमन्त्रण पर ही वह लाहौर भी आए थ। और मेरी उनके साथ वही अन्तिम भेंट थी।

इस समय तक हिन्दी म साहित्यिक का एक विशेष अथ समझा जाता रहा है। भाषा व्याकरण और साहित्य पर य लोग अपना सभी अधिकार समझते हैं। विचित्र स विचित्र आकृति और उससे भी अधिक विचित्र पोशाक म ये लोग जनता को दशन देते हैं। साहित्यिक नामधारी यह जमात सम्भवत केवल हिन्दी जगत म ही पाई जाती है। भाषा, साहित्य और व्याकरण के सबध म इन

लोगा ने जो विशेष प्रकार की रूढिया काफी समय से बना रखी हैं उन्हें ईमानदारी के साथ अपनाए बिना कोई व्यक्ति साहित्यिक नही कहला सकता। प्रेमचदजी इस तरह के साहित्यिक नही थे। उनका साहित्य जीवन का साहित्य था और इसीए वह जाता का साहित्य बन गया।

प्रेमचदजी विशेष प्रकार के साहित्यिक जीव' नही थे। उन्होन कभी कोई गुट बनान का प्रयत्न नही किया। न कभी उन्होने सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक नताओं के पास अपनी पहुच बनान की कोशिश की। सम्भवत यही कारण था कि न तो उन्हें कभी मगलाप्रसाद पारितोषिक मिल सका और न कभी वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति ही बनाए जा सके।

खडी हिन्दी ने आज तक सिर्फ एक ही साहित्यकार एसा पैदा किया है जो अपनी प्रतिभा के बल पर अन्तर्भारतीय स्थिति बना सका। मैं पूछता हू कि आज से सिर्फ पाच महीना पहले तक हिन्दी वालो के पास अन्य प्रान्ता के लोगो को दिखाने के लिए प्रेमचद को छोडकर और कौन साहित्यिक था ? आज तो वह भी नहीं रहे।

मोलियर आज फ्रेंच साहित्य का सवश्रेष्ठ नाटककार माना जाता है। परन्तु मोलियर के जीवन-काल म उसे ऊची प्रतिष्ठा इसलिए नही मिल सकी कि वह स्वय अपने नाटको म अभिनय करता था और उस समय अभिनय करना कुलीनता के विरुद्ध माना जाता था और यह कि उसन अपने नाटको म प्राचीन रूढियों की अवहेलना की थी। यहा तक कि फ्रास के सवश्रेष्ठ साहित्यिको की संस्था फ्रेंच एकेडमी ने भी उसे कभी अपना सदस्य नही बनाया। मोलियर की मृत्यु के बाद फ्रेंच एकेडमी को अपनी भूल मालूम हुई। अपनी इस भूल का प्रायश्चित्त करने का एक उपाय आखिर फ्रेंच एकेडमी न खोज ही निकाला। फ्रेंच एकेडमी में कुल मिलाकर एक सौ सदस्य होते थे। न कम और न अधिक। किसी सदस्य की मृत्यु के बाद उस स्थान की पूर्ति कर दी जाती थी। मोलियर के देहान्त के बाद जब एकेडमी मे कोई स्थान रिक्त हुआ तो उसकी जगह मोलियर को एकेडमी का सदस्य चुन लिया गया। जो लोग जीवित दशा म सदस्य बनते हैं, देहान्त के बाद उनका सदस्यत्व स्वय समाप्त हो जाता है। परन्तु जिसे देहान्त के बाद सदस्य बनाया जाए, उसके सदस्यत्व का अन्त कैसे समाप्त हो ? फ्रेंच एकेडमी के आज भी एक ही सौ सदस्य हैं—एक स्वर्गीय मोलियर और ९९ जीवित सदस्य बदलते रहते हैं पर तु मोलियर एकेडमी का स्थायी सदस्य है।

तो क्या इसी तरह इस वष का साहित्य का मगलाप्रसाद पारितोषिक गोदान पर देकर सम्मेलन अपने इस पारितोषिक को सम्मानित नही कर सकता ? 'गोदान' को छपे अभी एक साल भी नही हुआ। वह हिन्दी का सबसे ताजा और सबसे श्रेष्ठ मौलिक उपन्यास है। मुझे बताया गया है कि नियम सम्बन्धी

व्यापारिक अनुभव हम लोगो की बातचीत के मनोरजक विषय थे। मैंने देखा कि प्रेमचन्दजी अपने को अपने व्यवहार और कारोबार स पथक और ऊचा रखकर खुद अपनी कीमत पर अपना और दूसरा का मनोरजन कर सकते हैं। और यह बहुत बड़ा गुण है।

प्रेमचदजी का पारिवारिक जीवन मुझे पर्याप्त सुखी, शान्त और सन्तोषपूर्ण अनुभव हुआ। उनमे उनकी पत्नी म और उनके बच्चा म परस्पर यथष्ठ मधुरता मैंने पाई। परन्तु जो भोजन वह करते थे, वह मुझे बहुत दोषपूर्ण प्रतीत हुआ। उनके भोजन म ताजा और कच्ची सब्जियो फला तथा दही का सवथा अभाव था।

इस यात्रा के छ महीने बाद ही कलकत्ते जाते हुए कुछ घण्टा के लिए मैं बनारस उतरा और अब की बार किसी तरह की सूचना दिए बिना ही प्रेमचदजी के यहा जा पहुचा। उस दिन बनारस म बेहद गरमी थी। थोडी ही देर मे हम लोग दशाश्वमध घाट की ओर सैर के लिए चल दिए।

इसस कुछ ही दिन पूव किसी सज्जन ने प्रेमचदजी की रचनाओ के खिलाफ कुछ लख काफी महत्त्वपूर्ण ढग स प्रकाशित कराए थे। उन लेखा का जिक्र चला तो मैंने कहा कि मैं उन आक्षेपो के उत्तर के रूप म कुछ लिखना चाहता हू। प्रेमचदजी खिलखिलाकर हस पडे और कहा 'जब कोई कमजोर आदमी जबर दस्ती किसी पहलवान से भिड पडे तो उसके लिए सबसे बडी सजा यही है कि दूसरे लोग बीच म पडकर उन्हें जुदा न कर दें।'

अपने एक मित्र के लिए कानपुर से काफी बढ़िया चमडे का सूटकेस मैं एक ही दिन पहले खरीदकर लाया था। घर पहुचकर प्रेमचदजी की निगाह उस पर पडी और खब खिलखिलाकर हस लेने क बाद उन्होने कहा 'यदि कभी मैं इतना बढ़िया सूटकेस लेकर सफर पर निकलू तो चोरी के डर स सारी रात जागते ही बीत।

उसके बाद अनेक बार प्रेमचदजी से मिलने का अवसर मिला। गत वष फरवरी मास म कलकत्ता जाते हुए सिफ उन्हीसे मिलने की इच्छा से मैं कुछ घण्टो के लिए बनारस उतरा था। पिछले एप्रिल म आय प्रतिनिधि-सभा, पजाब की अद्ध शताब्दी पर, विशेषत मेरे निमन्त्रण पर ही वह लाहौर भी आए थे। और मेरी उनके साथ वही अन्तिम भेंट थी।

इस समय तक हिन्दी म साहित्यिक का एक विशेष अथ समझा जाता रहा है। भाषा व्याकरण और साहित्य पर ये लोग अपना सभी अधिकार समझते हैं। विचित्र स विचित्र आकृति और उससे भी अधिक विचित्र पोशाक म ये लोग जनता को दर्शन देते हैं। साहित्यिक नामधारी यह जमाल सम्भवत केवल हिन्दी जगत में ही पाई जाती है। भाषा, साहित्य और व्याकरण के सबध मे इन

लोगों ने जो विशेष प्रकार की रूढ़ियाँ काफी समय से बना रखी हैं उन्हें ईमानदारी के साथ अपनाए बिना कोई व्यक्ति साहित्यिक नहीं कहला सकता। प्रेमचंदजी इस तरह के साहित्यिक नहीं थे। उनका साहित्य जीवन का साहित्य था और इसीलिए वह जनता का साहित्य बन सका।

प्रेमचंदजी विशेष प्रकार के 'साहित्यिक जीव' नहीं थे। उन्होंने कभी कोई गुट बनाने का प्रयत्न नहीं किया। न कभी उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक नेताओं के पास अपनी पहुँच बनाने की कोशिश की। सम्भवतः यही कारण था कि न तो उन्हें कभी मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिल सका और न कभी वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति ही बनाए जा सके।

खड़ी हिन्दी ने आज तक सिर्फ एक ही साहित्यकार ऐसा पैदा किया है जो अपनी प्रतिभा के बल पर अन्तर्भारतीय स्थिति बना सका। मैं पूछता हूँ कि आज से सिर्फ पाँच महीनों पहले तक हिन्दी वालों के पास अन्य प्रान्तों के लोगों को दिखाने के लिए प्रेमचंद को छोड़कर और कौन साहित्यिक था? आज तो वह भी नहीं रहे।

मोलियर आज फ्रेंच साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना जाता है। परन्तु मोलियर के जीवन-काल में उसे ऊँची प्रतिष्ठा इसलिए नहीं मिल सकी कि वह स्वयं अपने नाटकों में अभिनय करता था और उस समय अभिनय करना कुलीनता के विरुद्ध माना जाता था और यह कि उसने अपने नाटकों में प्राचीन रूढ़ियों की अवहेलना की थी। यहाँ तक कि फ्रांस के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिकों की संस्था फ्रेंच एकेडमी ने भी उसे कभी अपना सदस्य नहीं बनाया। मोलियर की मृत्यु के बाद फ्रेंच एकेडमी को अपनी भूल मालूम हुई। अपनी इस भूल का प्रायश्चित्त करने का एक उपाय आखिर फ्रेंच एकेडमी ने खोज ही निकाला। फ्रेंच एकेडमी के कुल मिलाकर एक सौ सदस्य होते थे। न कम और न अधिक। किसी सदस्य की मृत्यु के बाद उस स्थान की पूर्ति कर दी जाती थी। मोलियर के देहान्त के बाद जब एकेडमी में कोई स्थान रिक्त हुआ तो उसकी जगह मोलियर को एकेडमी का सदस्य चुन लिया गया। जो लोग जीवित दशा में सदस्य बनते हैं, देहान्त के बाद उनका सदस्यत्व स्वयं समाप्त हो जाता है। परन्तु जिसे देहान्त के बाद सदस्य बनाया जाए, उसके सदस्यत्व का कार्य कब समाप्त हो? फ्रेंच एकेडमी के आज भी एक ही सौ सदस्य हैं—एक स्वर्गीय मोलियर और ९९ जीवित सदस्य बदलते रहते हैं परन्तु मोलियर एकेडमी का स्थायी सदस्य है।

तो क्या इसी तरह इस वर्ष का साहित्य का मंगलाप्रसाद पारितोषिक 'गोदान' पर देकर सम्मेलन अपने इस पारितोषिक को सम्मानित नहीं कर सकता? 'गोदान' को छपे अभी एक साल भी नहीं हुआ। वह हिन्दी का सबसे ताजा और उत्कृष्ट मौलिक उपन्यास है। मुझे बताया गया है कि नियम सम्बन्धी

अडचन इसके मार्ग में हैं। मगर ये अडचनें आखिर परमात्मा या प्रकृति की बनाई हुई नहीं हैं हमी लोगों की बनाई हुई हैं हम चाहें तो इन्हें दूर भी कर सकते हैं। शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य एक दिन में नया कानून बनाकर एक सम्राट के जीवित रहते हुए उसके राजत्याग को स्वीकार कर नया सम्राट बना सकता है तो इतने महीनों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने पारितोषिक सम्बन्धी नियमों में यह जरा सा परिवर्तन भी नहीं करवा सकता ?

प्रेमचद, जो भूले नही भूलते

○ जनार्दनराय नागर

मुन्शी प्रेमचद ने मुझे युवावस्था के प्रारभ से ही प्रेरणा दी है। 'प्रेमचद जस प्रेरणा-पूर्ण अत करण की स्वप्नशील ऊर्जा ही हो। तब मैं शक्ति और सौन्दर्य न भरपूर जीवन के पात्रों की खोज मे था—मन की आखो से ससार को खोजने लगा और इस रहस्यमयी रोमाचक तलाश की समूची दृष्टि मुशी प्रेमचद बन गए। तब 'रगभूमि' को अपना प्रेरणा उपन्यास मानकर मैंने उपन्यास लिखना आरभ किया। 'रगभूमि' के समान ही मैंने 'मातभूमि' की रचना की। पराधीन भारत की सीदती हुई मानवता के सघर्ष स पूर्ण देशी राज्य के अचल का देश-प्रेम की अग्नि से भरा यह उपन्यास तयार हुआ। तब सन १९३०-३१ था। प्रेमचदजी लखनऊ मे थे। मैंने 'मातभूमि' की रूपरेखा उनको भेजी। अवश्य एक जवान छल मैंने तब किया। उदयपुर के अपने साहित्यिक इष्ट मित्रो की रायें मैंने ही भिन्न भिन्न शैलियों म लिखकर साथ टाकी। प्रेमचदजी का तुरत उत्तर आया, पाण्डुलिपि भेजो छापूगा।' तब के मेवाड का मैं एक अदना लेखक हाईस्कूल पास एक रोमाटिक विद्यार्थी पौगण्ड युवा मैं धन्य हो गया। मुशी प्रेमचद की यह स्वीकृति तब के उदयपुर के साहित्य क्षेत्र मे एक घटना बन गई। किन्तु विधाता को कुछ और ही मजूर था। महाराणा को इस क्रान्तिकारी उपन्यास का पता चला। मेवाड सरकार ने उसकी जब्त कर लिया। मैंने प्रेमचदजी को आसुओ से भरा पत्र दिया। प्रेमचदजी ने उत्तर दिया 'निराश मत होओ। दुबारा लिखकर भेजो।' मैंने दुबारा इस उपन्यास को लिखा तो एक स्नेही लखनऊ पहुचे जनार्दनराय बन गए और उपन्यास को लेकर कही गायब हो गए। प्रेमचदजी को जब पता लगा तो उन्होने उस जालसाज पर मुकदमा करने की मुझे सलाह दी।

मुकदमा दायर करना मेरे लिए असभव था। मेरे नाना महाराणा के निजी कारगज थ। वह हिन्दी को मुसलमानी कहते थे और मेरे पिता कहानी तथा उपन्यास लिखना समय का अपव्यय तो कहते ही थे किन्तु नागर कुल के लिए

कलकत्ता व्यापार भी मानते थे। और सच तो यह है मैं तब युवा दिवा स्वप्नों से भरे प्रेम के मनोराज्य में पड़ गया। वर्णान्तर लग्न करने के क्रांतिकारी उपक्रम का संघर्ष शुरू हुआ और मैंने प्रेम के खातिर परदा, कुल, वंश आदि त्याग कर एक तूफान ही बरपा कर दिया। अन्तरात्मा का सौंदर्य तथा रस रिझिवार का वह संघर्ष था जिसमें रूढ़ियों से जकड़ा मेरा परिवार तथा परिसर सभी जैसे हचमचा उठे। मुंशी प्रेमचंद भूल से गए और समाज के गढ़ तोड़कर मैं प्रेम गढ़ की विजय के लिए घर से बाहर भटकता फिरा। यह औरत की ठोकर थी, जो लगी और जिसने मुझे मुंशी प्रेमचंद और बाद में किसी ज्ञात किन्तु अज्ञात से भगगुरु की ओर आत्म में उन्मुख किया है। देश का पराजित मैं एक युत समाज सेवा द्वारा नेता बनना चाहने लगा और भारत की गुलामी को तोड़ने के लिए मैं अपनी वधी बेड़ियों को झनझनाता हुआ मैदान में निकल आया। अवश्य, तब मैंने कीचड़ का कमल उपन्यास लिखा जो आज अप्रकाशित राजस्थान विद्यापीठ के साहित्य संस्थान की अलमारी में सुरक्षित है।

मैं काशी प्रेमचंदजी हरिऔधजी, रामचन्द्र शुक्ल जयशंकर प्रसाद के दर्शनों के लिए ही गया। मैं एक बदनाम उग्र युवक हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातक के अभ्यासक्रम के अध्ययन के लिए गया। मेवाड़ के महाराणा श्री ने उनके राज गोदाम के वकील व्यवस्थापक के मिरफिर पुत्र की सहायता की। यों तो मात भूमि अन्त करते समय मेवाड़ महाराणा ने मेरे नानाश्री को पच्चीस हजार का चैक देकर कहा उसे इंग्लैंड भेज दें।' परन्तु तब दाढ़ी मूंछ होने वाली थी। मैंने कहा भारत की स्वाधीनता के बाद ही विदेश जा सकता हूं। गुलाम भारतीय युवक मैं क्या मुंह लेकर विलायत जाऊंगा?

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय 'अमराइयों के स्वर्ग' महामना मालवीयजी की अमोघ तपस्या का साकार स्वरूप! इस विश्वविद्यालय की भूमि पर पर रखते ही मैं जैसे ठक हो गया—अवाक सा मैं उस द्वितीय नन्दनवन में परिसर को देखता फिरा। एक अज्ञात तमन्ना दिन दिमाग में लहर गई और जब मैं विश्व विद्यालय के गंगाघाट पर बैठा बैठा गंगा की तरंगों को हिलकोर रहा था एक अंजलि स्वयं ही जैसे हथेली में भर गई उदयपुर में ऐसा विश्वविद्यालय स्थापित हो। अंजलि गंगा के तरंगित नीर में जा रमी। और मैं प्रेमचन्दजी के दर्शन के लिए उनके प्रेस तथा 'हंस' कार्यालय में पहुंचा। प्रेमचंदजी ने मुझे जैसे पहचान लिया। 'तुम जनार्दन?' उन्होंने अपनी आकाशी आंखों से मुझे घूरते हुए पूछा। मैंने प्रणाम करते हुए कहा, जी।

यों आरंभ हुआ इस भव में मुन्शी प्रेमचन्दजी का सान्निध्य। फिर तो जब मैं प्रेस जाता बाबूजी अपना काम बन्द कर देते। थैला उठाते और मुझको साथ लेकर घर के लिए चल देते। प्रेस में तथा रास्ते भर प्रेमचंदजी मुझसे धर्म

हृदय मस्कृति, मानव-कल्याण, कला, भारतीय स्वाधीनता विश्व शांति और त्मात्र के मगलोद्भव के लिए वार्ता करते रहते। मैं उनकी बात सुनता ग और बीच-बीच में अपनी बात कहता रहता। मैंने इस परिव्राजक वातावरण मुन्शी प्रेमचन्द को ही सुना, उनके अतरात्मा को जाना। मेरी बात तो एक कल्पनाशील युवा रोमाण्टिक लेखक की ही होती। महात्मा गाधी से हृदय भरा था जवाहरलाल नेहरू से बुद्धि भरी थी। सरदार पटेल तथा अन्य महापुरुषों के कृतित्वों की किरणें आंखों में भरी थीं। किन्तु मैं इन सबके पर और पार देखना चाहता था। श्यामसुन्दर दास को प्रणाम करना चाहता था। *आचार्य रामचद्र शुक्ल के चरणों में बैठना चाहता था। मैं जयशकर प्रसाद न* नवी कामायिनी सुनना चाहता था। भारत के इन महाकवियों साहित्य मनीषियों और स्वप्नद्रष्टा लेखकों की छायाओं में घुल-मिल जाना चाहता था।

मैंने अपनी कहानियां और गद्य काव्य बाबूजी को दिए। आचार्य प्रेमचन्दजी उनको हस में प्रकाशित करना प्रारंभ किया। एक कहानी 'राकेश' मैंने बाबूजी को दी। उसको पढ़कर प्रेमचन्दजी ने उसे अपने पास रख लिया। कई मास गुजर गए वह कहानी प्रकाशित नहीं हुई। मैंने भी कुछ भी नहीं पूछा। तब एक दिन बाबूजी ने मुझसे कहा 'एक अपराध मुझसे हो गया है।' मैंने कहा, 'अपराध? क्या?' मुन्शी प्रेमचदजी ने कहा 'वह तुम्हारी कहानी राकेश' मुझसे गुम हो गई है। मुझे इसका बड़ा दुःख है। पुनर्जन्म को अतीन्द्रिय को लेकर ऐसी कहानी कहां लिखी है? तुम्हारी वह कहानी अद्वितीय थी—मैं भी ऐसी लिख नहीं सकता था। क्या कहूं?' मैंने मुन्शी प्रेमचन्दजी के चरण थामकर कहा, "बाबूजी! ऐसी हजार कहानियां मैं आपपर निछावर कर सकता हूं। मैं उसको पुनः लिखूंगा।" प्रेमचन्दजी प्रसन्न हो उठे और उन्होंने मुझको अगाध स्नेहसिक्त करुणा से देखा। मुन्शी प्रेमचद की वह करुणार्द्र दृष्टि आज भी मेरे अतःकरण में उजाला करती है और वहां उस चैतन्यशील-सुन्दर दृष्टि जन जगद्गुरु शकराचार्य के आलोक के लिए प्रकाश की किरण बन गई है। और इसीलिए मैं प्रेमचन्द को अपना साहित्य गुरु मानता हूं। गुरु वह है जो जीव की दृष्टि को उज्ज्वलित कर दे और अधकार में प्रकाश की ओर मन को नयनों को खींच ले। मुन्शी प्रेमचद ने मुझे सनातन शाश्वत मानव जीवन के गहन अतल में दर्शन की दीक्षा प्रदान की है। जगत के क्षणिक रूपों के मूक अन्तराल को देखकर भव ससार की विनाश में जननी हुई भावनियों से ऊपर उठकर अजर अमर जीवन के करुणामय सौन्दर्य को टटोलने की गुह्य कामना भी दी है। निःसन्देह मानवता अंतरात्मा के जागरण का ही आत्मतत्त्व है। मैंने काफी कहानियां लिखी हैं, निबन्ध तथा नाटक भी लिखे। किन्तु मैं प्रेमचद के होरी की कल्पना नहीं कर सका हूं। 'राकेश' की धारणा तो एक शाश्वत कथा की धारणा थी। इस मृत्यु

वलवजय व्यापार भी मानत थे। और सच तो यह है मैं तब युवा न्वा स्वप्ना स भर प्रेम क मनोराज्य म पड गया। वणान्तर लग्न करन के क्रान्तिकारी उप क्रम का सघष शुरू हुआ और मैंन प्रेम के खातिर पद्राइ कुल, वश आदि त्याग कर एक तूफान ही बरपा कर लिया। अन्तरात्मा का सौंदय तथा रस रिभिवार का वह सघष था जिमम हल्दियो स जकडा मरा परिवार तथा परिगर सभी जस हचमचा उठे। मुन्शी प्रेमचद भूल म गए और समाज क गढ़ तोडकर मैं प्रम क की विजय के लिए घर स बाहर भटकता फिरा। यह औरत की ठोकर थी जो लगी और जिसन मुझे मुन्शी प्रमचद और बाद म किसी भांत किन्तु प्रधान स भवगुरु की ओर अन्त म उन्मुख किया है। स्त्र का पराजित मैं एक युत समाज सेवा द्वारा नता' बनना चाहने लगा और भारत की गुलामी को तोडने क लिए मैं अपनी वधी बडियो को झनझनाता हुआ मदान म निकल आया। अवश्य तब मैंन कीचड का कमल उपन्यास लिखा जो आज अप्रकाशित राजस्थान विद्यापीठ क साहित्य सस्थान की अलमारी म सुरक्षित है।

मैं काशी प्रेमचदजी हरिऔधजी रामचन्द्र शुक्ल जयशकर प्रसाद क दशनों के लिए ही गया। मैं एक बदनाम उग्र युवक हिन्दू विश्वविद्यालय म स्नातक के अभ्यासक्रम क अध्ययन के लिए गया। मेवाड के महाराणा श्री न उनक राज गोदाम के बलीत व्यवस्थापक क मिरफिरे पुत्र की सहायता की। या तो मात भूमि जब्त करत समय मेवाड महाराणा ने मरे नानाश्री को पच्चीस हजार का चेक देकर कहा 'उस इग्लड भेज दें।' पर तु तब खाडी कूच होन वाली थी। मैंन कहा भारत की स्वाधीनता क बाद ही विलायत जा सकता हू। गुलाम भारतीय युवक मैं क्या मुह लेकर विलायत जाऊगा ?

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय 'अमरावती क स्वग' महामना मालवीयजी की अमोघ तपस्या का साकार स्वरूप ! इस विद्याविद्यालय की भूमि पर पर रखत ही मैं जस ठक हो गया—अवाक् सा मैं उस द्वितीय नन्दनवन स परिसर को देखता फिरा। एक अज्ञात तमन्ना मेरे दिमाग म लहर गई और जब मैं विश्व विद्यालय क गगाघाट पर बठा बठा गगा की तरगो को निरख रहा था एक अजलि स्वय ही जस हथेली म भर गई उदयपुर म ऐसा विश्वविद्यालय स्थापित हो। अजलि गगा के तरगित नीर मे जा रमी। और मैं प्रेमचन्दजी के दशन के लिए उनके प्रेस तथा हस कार्यालय म पहुचा। प्रेमचदजी न मुझे जैसे पहचान लिया। तुम जनादन ? उन्होंने अपनी आकाशी आखो स मुझे घूरत हुए पूछा। मैंने प्रणाम करते हुए कहा जी।

यो प्रारभ हुआ इस भव म मुन्शी प्रेमचन्दजी का सान्निध्य। फिर तो जब मैं प्रेस जाता, बाबूजी अपना काम बन्द कर दते। थला उठाते और मुझको साथ लेकर घर के लिए चल दते। प्रस म तथा रास्त भर प्रेमचदजी मुझस धम,

साहित्य, संस्कृति मानव कल्याण, कला, भारतीय स्वाधीनता, विश्व शांति और प्राणिमात्र के मंगलोद्भव के लिए बातें करते रहते। मैं उनकी बात सुनता रहता और बीच-बीच में अपनी बात कहता रहता। मैंने इस परिव्राजक वार्तालाप में मुन्शी प्रेमचन्द को ही सुना उनके अन्तरात्मा को जाना। मेरी बात तो एक स्वप्नदर्शी युवा रोमांटिक लेखक की ही होती। महात्मा गांधी से हृदय भरा था जवाहरलाल नेहरू में बुद्धि भरी थी। सरदार पटेल तथा अन्य महापुरुषों में व्यक्तित्व की किरणें आँखों में भरी थीं। किन्तु मैं इन सबके पार और पार हरिऔध को देखना चाहता था। श्यामसुन्दर दास को प्रणाम करना चाहता था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के चरणों में बैठना चाहता था। मैं जयशंकर प्रसाद से उनकी कामायनी सुनना चाहता था। भारत के इन महाकवियों, साहित्य मनीषियों और स्वप्नद्रष्टा लेखकों की छायाओं में घुलमिल जाना चाहता था।

मैंने अपनी कहानियाँ और गद्य काव्य बाबूजी को दिए। आचार्य प्रेमचंदजी ने उनको 'हंस' में प्रकाशित करना आरंभ किया। एक कहानी 'राकेश' मैंने बाबूजी को दी। उसको पढ़कर प्रेमचन्दजी ने उसे अपने पास रख लिया। कई मास गुजर गए वह कहानी प्रकाशित नहीं हुई। मैंने भी कुछ भी नहीं पूछा। तब एक दिन बाबूजी ने मुझसे कहा, 'एक अपराध मुझसे हो गया है।' मैंने कहा 'अपराध? क्या?" मुन्शी प्रेमचंदजी ने कहा वह तुम्हारी कहानी 'राकेश' मुझसे गुम हो गई है। मुझे इसका बड़ा दुःख है। पुनर्जन्म को अतीन्द्रिय को लेकर ऐसी कहानी कहाँ लिखी है? तुम्हारी वह कहानी अद्वितीय थी—मैं भी ऐसी लिख नहीं सकता था। क्या वह? मैंने मुन्शी प्रेमचंदजी के चरण थामकर कहा, "बाबूजी! ऐसी हजार कहानियाँ मैं आपपर निछावर कर सकता हूँ। मैं उसको पुनः लिखूँगा। प्रेमचन्दजी प्रसन्न हो उठे और उन्होंने मुझको अगाध स्नेहासिक्त करुणा से देखा। मुन्शी प्रेमचंद की वह करुणार्द्र दृष्टि आज भी मेरे अन्तःकरण में उजाला करती है और वही उदार चैतन्यशील-सुन्दर दृष्टि उस जगद्गुरु शंकराचार्य के प्रासंगिक के लिए प्रकाश की किरण बन गई है। और इसीलिए मैं प्रेमचन्द को अपना साहित्य गुरु मानता हूँ। गुरु वह है जो जीव की दृष्टि को उज्ज्वलित कर दे और अन्धकार से प्रकाश की ओर भव के नयनों को मीच दे। मुन्शी प्रेमचन्द ने मुझे सनातन शाश्वत मानव जीवन के गहन अतल में देखने की प्रेरणा दी है। जगत के क्षणिक रूपों के मूल अन्तराल को देखकर भव संसार को निःसार न मानती हुई भावों से ऊपर उठकर अजर अमर जीवन के कल्याणमय सौन्दर्य को टटोलने की शुभ कामना भी दी है। निःसंदेह मानवता अन्तरात्मा के जागरण का ही पारमतत्त्व है। मैंने काफी कहानियाँ लिखी हैं निबन्ध तथा नाटक भी लिखे। किन्तु मैं प्रेमचंद के 'होरी' की कल्पना नहीं कर सका हूँ। 'राकेश' की धारणा तो एक शाश्वत कथा की धारणा थी। इस मृत्यु

लोप म जन्म भर भी वह लोक लोकान्तरों म ही मन स जाती है। वह एक समय योगी के साथ साथ सष्टि के अभिनव सुदर लोको म चक्कर लगाती फिरती है। मत्यु की सभी छायाओ के पर वह प्रीति की मूर्ति काल के प्रवाह के साथ ज्योतिमय ईश्वर की भाति बहती रहती है। आज भी मैं सोचता हू—शाश्वत सुदर शात करुणामय और प्रकाशमय जीवन ही आत्मा की सनातन कालातीत कामना है। जिजीविषा ! यही कामना परम ब्रह्म म जाग्रत होती है और वह स्वय स कह उठता है एकोऽहम बहुस्यामि।

प्रेमचदजी न मुझको युवावस्था क पोगण्ड द्वन्द्वों स भी एक प्रकार से मुक्ति दी। औरत की ठोकर म प्रताडित और पीडित मैं तब लीलू अजारिया नाम स एक उपन्यास लिख रहा था। बाबूजी को सुनाता वह मुस्कराते हुए सुनते और उनकी आखो म चमकती हुई टिमकारें होती रहती। या मैं स्नातक अभ्यागम-श्रम म दशनशास्त्र लेकर अपने अत करण के निराश तथा मनचुक्के प्रीति क द्वन्द्व को शात करना चाहता था पर तु दशन मुझ सुनकर समझ म नही आता था। अवश्य तब परम्परागत धारणा द्वारा मिला हुआ ईश्वर का विश्वास सिहरा करता था। दशनो की युक्तिया सुन-सुनकर मैं एक ऊहापोह म ही पडता रहता था। बुद्धि स समझकर मैं अतरात्मा क मोह को काटना चाहता था। तब सोचता था प्रीति म सराबोर कामिनी ही इस जगत म अभीष्ट है। ईश्वर और प्रेम करने वाली सौभाग्यशील कामिनी अनायास नही मिलती उसके लिए पूर्व-जन्मो की पुण्य राशि चाहिए—तपस्या चाहिए। सोचत विचारत हुए भी, मन को दाबत हुए भी अन्तर की पीडा घनीभूत होती ही गई और मैंने निश्चय सा किया कि आत्महत्या ही कर ली जाए। पत्र लिख दिए और मैं बाबूजी के पास उनके दफ्तर म गया। मुझको देखते ही प्रेमचदजी कुछ मन ही मन सहमे ठिठके। चटपट उन्होने कागज समेटे, थैला लिया और बोले, 'चलो।' मैं और वह वाराणसी की परिचित सडको को पार चले। प्रेमचदजी ने सदैव की भाति गृहस्थी का सामान लिया और सीधे घर पहुचे। आरामकुर्सी पर बठे और मुझे खडे हुए युत को घूरकर बोले 'तुम वह लीलू अजारिया लिख रहे हो न ? कब समाप्त करोगे ? अरे भई ! मैं वैसा उपन्यास नही लिख सकता। उसे समाप्त करो। मैं तो जब उसीके लिए राह देख रहा हू।' मैं निराशा की मूर्ति हिला। बोला 'क्या ? आप नही लिख सकते ? उसीकी राह देख रहे हैं ?' और मैं उनको प्रणाम कर विश्वविद्यालय की ओर भागा। रात भर म प्राय ५० स अधिक पष्ठ लिखे। आत्महत्या करने का निश्चय कहा गया ? मैं रग रग म तरो-ताजा हो गया। वह जिजीविषा अपने अतल गहन के साथ ऊजस्वित हो उठी। मैं 'लीलू अजारिया' क धारणाओ मे डूबकर मन के अधेरे तलो म जीवन का सीखा हुआ सौदय खोजने लगा। औरत की ठोकर की पीडा जसे कल्पवृक्ष के

न्त की गंध बनकर मेरे रोम रोम में समा गई। प्रेमचंदजी ने एक सदगुरु की भांति अपने जड़ शिष्य के नयन उन्मीलित कर दिए। आज भी 'लीलू अजा रिया के लिखित पृष्ठ बंधे पड़े हैं—उपन्यास तो समाप्त नहीं हुआ, किंतु वह भव ही एक उपन्यास बनता चला गया।

मुन्शी प्रेमचन्दजी ने ही मुझे अपने उदार स्नेहासिक्त सान्निध्य से आत्मा का आलोक जपे आलोकित कर दिया। वह मुझमें न जाने क्या देखते थे? एक बार जैनेन्द्रजी का लिखित उपन्यास मुझे दिया। कट्टा उनकी नायिका और वह उपन्यास लोगों के मुंह पर चढ़ा हुआ था। मुझे कहा, "आलोचना लिख दो, "हंस में छपेगी।" मैंने आलोचना लिख दी। इस उपन्यास में अन्त में नायिका से प्रेम करने वाला नायक उसको नग्न कर आंखें मूंद लेता है और प्रत्यावर्तित होता है। मैंने कहा कि यह मानव मनोविज्ञान के विपरीत है। जैनेन्द्रजी महात्मा गांधी के संयम तथा उनकी आत्मशक्ति को मानने वाले शीलवान लेखक है। नाराज हो गए और प्रेमचंदजी से मेरी इस आलोचना की शिकायत उन्होंने की। प्रेमचंदजी ने उनकी शिकायत मुझसे कही। मैंने कहा, "यह प्रेम तो देह सुख का अटूट मोह है। यह छुपिया और मुनिया से जीता नहीं गया। इसको जीतना है ही नहीं। ईश्वर के विरह में डूबकर इसको त्यागना ही है।'

ईश्वर! प्रेमचन्दजी जगत् में मानते थे जीवन में मानते थे—होरी उनके जीवन दर्शन का प्रतीक पात्र है। बोले ईश्वर है क्या? मैं क्या जवाब देता? मैं तो तब जगत को देखता भर था स्पर्श भर करता था—जानता नहीं था तब मैं आश्चर्यचकित और मूक भव संसार में एक अंध प्रेमी की भांति टटोलता फिरता था। आज मैं मुन्शी आत्मा से भव संसार देखता रहता हूं। जगत का आश्चर्य बुद्धि से समझने का प्रयास करता हूं किंतु कालगति कर्म का यह प्रारब्ध संसार मुझे समझ में आकर भी समझ में नहीं आ रहा। दर्शनशास्त्र की सभी नावें त्यागकर मैं भव संसार की निताप भरी तरंगों में डोलता हुआ भव का किनारा ही चाहता हूं। प्रेमचंदजी तटस्थ से जगत देख चुके थे कदाचित। मूक और विवश से भव संसार के तट पर खड़े वह मौन भव संसार को देखते निहारते, घूरते रहते थे। किंतु उनको किनारा नहीं मिल रहा था। ईश्वर-परमात्मा के विश्वास के बिना भव संसार तरा जाता ही नहीं। प्रभु के विश्वास के बिना ज्ञान होता ही नहीं और ज्ञान हुए बिना ईश्वर की यह महामाया छोड़ता ही नहीं। ईश्वर का विश्वास ही जीवन का विश्वास है, प्रभु का अस्तित्व मानना ही जगत की दिव्य गहन गूढ़ माया का संतरण करने की शक्ति है। ईश्वर का विश्वास योगमाया बनकर जगत की क्षण स्थायी दिव्यतम स्थितियों से पार लगा देता है। ईश्वर की ओर हो मार्ग हृदय के अन्तर्मुख तथा अकारण जीवन का अगाध विश्वास ही है—हो सकता है। प्रेमचंद मृत्यु की अंतिम घड़ी तक

इश्वर के निश्वास के लिए तडपा किए । उनको इस मूक तडप को देखकर मुझे एक शाश्वत मानव के ही दर्शन होते थे । इस धरा पर चिरंतन मानव ऐसा ही है जगत के ऐश्वर्यों की क्षण भंगुरता से प्रताडित कुछ निराश किन्तु जीवन के अमोघ विश्वास से भरे हुए इन्सान के मूक अन्तरात्मा में ईश्वर के विश्वास के लिए ही अनादि द्वन्द्व चलता रहता है । जगत छूटकर भी नही छूटता । ईश्वर मिलकर भी नहीं मिलता । उनकी रोग शय्या के पास बैठकर मैं कितना चाहता था कि ईश्वर का विश्वास बाबूजी के अगाध हृदय में जाग उठे । प्रेमचंद जगत का रूप ज्वालाओं में जल रहे थे, भव संसार की स्मृतियां में सीदते हुए वह अनजान का ज्योतिर्मय पार देख रहे थे । निस्सन्देह यह अनादि मानव की निरंतर काल यात्राओं का स्वप्न सम्मोह था । तभी मैंने जैसे मुंशी प्रेमचंद के चरण मन से थाम लिए । निस्संदेह हम अनादि मानव होना है । वह शाश्वत चिरंतन मानव जो प्रतिपल अंधकार से प्रकाश की ओर सिहरता हुआ चले जो अनित्य को त्यागकर नित्य की खोज में मारा मारा फिरता रहे और जो मृत्यु के भयों को छोडकर अमृत के अभय के लिए कृतसंकल्प होता चले । निस्संदेह वह ऋषि, जिसने प्रथम बार जगत का दिव्यतम देखकर प्रकाश की पुकार की शाश्वत मानव ही था । ऐसे दिव्य संघर्षों में डोलते तथा डुलते रहने वाले मानव का प्रथम परिचय मुझे प्रेमचंदजी में ही हुआ । प्रेमचंदजी के पास मैं जैसे अपने गहनतम को ही चीर देना चाहता था मैं अपने मोहों को जला देना चाहता था । मैं जैसे जीवन की कामनाओं को पुनीत कर जीवन का अमृत चखते रहना चाहता था । प्रेमचंदजी की अर्थी पर मैंने उन्हीं के बाग से गुलाब का फूल चुनकर इसी प्रणाम के साथ चढाया है । वह अर्थी और वह फूल मुझसे भूला भी नहीं भूलता ।

मुंशी प्रेमचंद ने मुझको वाराणसी के मार्गों पर चलते हुए धर्म संस्कृति साहित्य शिक्षा तथा जीवन दर्शन के लिए जैसे अन्तर्दृष्टि दी । बीच बीच में टहलते हुए वह ठिठक जाते और परम्परा के जड रूढिवादियों पर वाणी का प्रहार करने लगते । यह कौवे काँव काँव जो कर रहे हैं । अंधी जड तथा दुःखदायिनी शोषक रूढियों को प्रेमचंद कौवा की सहज ही उपमा दे बैठते थे । लगो ... इनके लिए मौजूं गाली था । प्रेमचंद बातचीत में किसी विचार, परम्परा तथ्य अथवा स्थिति को लगो कहकर उसकी शालीन भर्त्सना कर देते थे । हिन्दू संस्कृति की पुराण परम्परागत बहुत-सी रूढियाँ उनकी समझ में आती नहीं थीं भाती नहीं थीं । अग्निदाह की प्रथा उनको भाती नहीं थी । एक दिन बातचीत में सहज ही प्रेमचंद बोल उठे—वह उठे यह शव जलाने की क्या प्रथा है ? प्रिय तथा इष्ट के शरीर का भस्म कर दो । इससे तो यह मुस्लिम-क्रिश्चियन वगैरह अच्छे—गाडते हैं कब्र बनाते हैं चिराग जलाते हैं मृत की स्मृति तो कब्र और उसपर जलता दीपक है । ऐसा कुछ कहकर प्रेमचंद

नय म ही खो गए । प्रमचद पुनजम, आत्मा, ईश्वर आदि को क्दा-वत बुद्धि स स्वीकार कर नही सकत थे । गरीबी स जन्मा और भाग्य स सतत सघप करनेवाला स्वप्नदर्शी प्रेमचन्द जिन्दगी को एक सुगध से पूण समति पुष्प ही मानत थे, जो भव-ससार को कब्र पर रखा जाए। प्रेमचदजी की उन आकाक्षी आखा म अगाध ही अगाध था—एक जाग्रत सगय जसे उनकी दृष्टि म भरा था। सच ता यह है प्रेमचद केवल शुद्ध बुद्ध मनुष्य थे और मनुष्य के दशन करना करत रहना चाहते थे। राजे महाराजे, सेठ-साहूकार, जती जमींदार, महन्त मठाधीश समाज के यह नसीबवान व्यक्ति उनको अजीब कौतूहल स भर देत थ। वह इनको विहसौहैं आश्चय से ही देखते थे। बडे बारीक बुद्धिमान भी प्रमचदजी को पसन्द नही आते थे। सूक्ष्म रेशमी धागे की जाल को वह दूर से दखकर भुलात भर थ। तक का रमणीय चाला स प्रमचद रीझते भर थे, कि तु विचार को मात्र शुद्धि एव परिष्कार के लिए ही उन्होने स्वीकार किया था। अपनी कहानियो और उपन्यासा म उन्हाने सभी भाति के पात्र रचे हैं, किन्तु प्रेमचद का मानव विरही अन्तरात्मा सूरदास तथा होरी क दय और शक्ति मे पूण आन्य सुन्दर चरित्रा म ही व्यक्त हुआ है। प्रेमचद के अन्य पात्र तो सासारिक हैं ससार को प्राप्त कर उनका भोग करना ही चाहते थे। प्रेमचद इस भोग को शोषण स नही, प्रेम से चाहते थे। दमन, पीडा उत्पीडन तथा शोषण से मनुष्य क्या छीने और पिशाच की भाति भोग ? प्रेमचद अन्त करण की अटल निष्ठा स अपने प्रिय को पकड जकड रखने म शक्ति मानते थे। एक दिन उन्होने मुझसे कहा 'तुम लोग प्यार करते हो और रोत रहत हो। मैंने 'गोदान' म डा० महता द्वारा इस रुदन को नही माना है। मैं जिस प्रेम करू उसकी ओर मजाल है कोई देख भी ल। उडा ल जाने की बात तो दूर।' और मुशी प्रेमचद ठहाका मारकर हस। मुझ आज भी उनका वह उन्मुक्त प्रसन्न निमय ठहाका याद है—कभी कभी सुनाई पडता है। प्रेम तो शहशाह ही करता है। प्रेम भीखमगे नही कर सकत। प्रम आत्मा का ज्योतिमय शान्त सन्तुष्ट-तुष्ट स्पश है। प्रेम वह बधन है जो काय द्वारा भी तोडा नही जा सकता। सबस ऊची प्रेम सगाई कहन वाले भक्त चूडामणि सूरदास न असीम समपण म ही गौरव को स्वीकार किया। हमारे बाबूजी मुशी प्रेमचद प्रेम को जगत क जीवन की उदात्त नतिकता का आधार मानते थे। समाज क सभी वायद मानवा की परस्पर प्रीति के लिए उदात्त भाग हो जीवन की सभी गतिविधिया सहकार सहयोग के जीवन-व्यापार द्वारा प्रतिपल अन्दर के प्रेम को ही प्रकट करे—व्यक्त करे। प्रेमचद ऐस समाज की कल्पना करत थ जिसम गरीब और अमीर न हो, सरल, सौम्य दिव्य मानवा का वह अभय तथा शान्ति म पूण समाज हो। निस्सदेह प्रेमचद किसी भी वाद के राग का तथा उसके घर और उसकी शोरगुल मचाने वाली जमात को नही

प्रेमचद के साथ लमही की यात्रा

○ जैनेन्द्रकुमार

प्रेमचद पर इतना कहना पड़ा है कि सोचता हू कि क्या और नया कहा जा सकता है ? पर शायद अब तक बखान हुआ है उनका जिनके प्रति आदर होना है। लेकिन आदमी कुल मिलाकर आदरणीय ही नही होता। खासकर प्रेमचद बहुत सरल थे। लोग हो सकते हैं जो हर वक्त अपने को आदरणीयता से लपेटे रहे। जब दीखें सावधान दीखें और कमजोरी उनके लिबास में से बाहर न जा पाए। इस मामले में प्रेमचद निडर अनाड़ी थे। यह कि वो लेखक हैं, बड़े लेखक हैं किसी तरह सम्माननीय हैं यह कुछ भी हो उनके चाल से न झलक पाता था। उनके पास कोई अदा ऐसी न थी, जिससे उनकी निरीहता और नादानी ढकी रह जाए और उभर न पड़े।

एक बार दिल्ली के एक मेरे मित्र बनारस से लौटकर आए। मैंने पूछा, कहिए प्रेमचद से मिले ? कैसे लगे ?

मित्र हसे और अपना किस्सा सुनाने लगे बोले, स्टेशन से जा रहे थे सोचा इधर ही कहीं उनका प्रेस है उन्हें साथ लिए लेते हैं आसानी रहेगी। पूछताछ कर प्रेस मिला। एक मेज थी, काफी छोटी जिसपर कागज के ढेर थे पानी के कुल्हड़ की जगह थे लिए कागजों को इधर उधर सरका गया है। खैर प्रेमचद जी साथ हुए कुछ दूर चलने पर कहा कि सामान अगर कहीं रखा जा सके तो लग हाथ पहले विश्वनाथ के दर्शन कर लें और एकाध से मिलत भी चलें। प्रेमचद तत्काल में राजी हुए। अब तमाशा सुनिए ताग पर मैं और श्रीमती और सामान और प्रेमचद नीचे सड़क पर बराबर बराबर पैदल चलते हुए आसपास दुकानों को देखते जा रहे हैं कि किस भलेमानस से कहा जाए कि सामान रख ले। इतनी उम्मीदें में इतना है कि फिर धीमे धीमे आगे चल पड़ता है क्योंकि प्रेमचद ने एक दुकानदार से कहा है और उसने मजबूरी जाहिर की है। क्या बताऊ सच्च ऐसा हम कोई डेढ़ फर्लांग तक पर लस्त-पस्त गुजरते गए और प्रेमचद और मोड सड़क पर साथ चला किए। दो चार जगह कहने पर कोई साहब हाथ

न आप जो प्रेमचन्द को जानते हो और उनके खातिर कुछ देर इस सामान को अपने पास रहने दे सकें। सवाल में तो लाओ—जनेन्द्र शब्द में हम दो मदद हैं जिनमें एक हमारी श्रीमती हैं और बीच बाजार में यह तमाशा हो रहा है। हम परेशान हैं। इसलिए बेचारे की हालत पर तरस खाकर हम चुप हैं।

आखिर मैं इधर से उतर आया प्रेमचंद के साथ हुआ कहा हटाइए, छोड़िए भी। सामान साथ लिए चलते हैं अपना क्या बिगड़ता है।

तत्कील देत वह बोले "नहीं अभी कोई मिल जाएगा। लेकिन देखो कम्बख्तों को जरा सामान रख लेने में इनका जाता क्या है।

किस्सा आखिर यह कि इस तमाशे में १५ २० मिनट हो गए। इतना खरामा खरामा चला किया, हम चलते किए और प्रेमचंद के पहचान के कोई दोस्त दस्तयाब न हुए। मैंने हारकर कहा ऐसा किया जाए बाबूजी कि आप घर चलिए नाहक आपको देर हो रही है और हम लोग भी थोड़ी देर में आ पहुंचते हैं।

प्रेमचंदजी ने फिर प्रतिरोध में कहना चाहा कि नहीं ऐसी क्या बात है लेकिन हमने उन्हें विदा दी और निश्चिन्त हुए। कहने की बात नहीं कि प्रेमचंदजी के बाद हमें अपनी सहायता करने में तनिक कठिनाई न हुई, न देर हुई। सामान रख दिया गया हम लोग जहां जहां जाना था मजे से सबसे मिलकर वापस पहुंच गए। ठहरे उन्हीं के साथ, लेकिन अजब हैं जनेन्द्र तुम्हारे प्रेमचंदजी। बरसों से बनारस में रहते हैं और मशहूर इतने लेकिन बाजार भर में एक हाथ न आया जो उन्हें जानता हो। हम परेशानी लेकिन हम दिक्कत न हुई और प्रेमचंद खुद भटका किए और श्रीमतीजी के साथ हमें भटकाया किए। क्या जनेन्द्र, यह मामला क्या है ?

मामला यह मैं अब तक नहीं जानता। लेकिन प्रेमचंद बेगाना और बेलौस के आदमी थे। मित्रताएं बनाने और उन्हें फलाने-बढ़ाने में प्रवीण न थे।

मित्र के इस अनुभव के साथ मुझे एक अपनी दूसरी आपबीती याद आती है।

बोले प्रेमचंद तो जनेन्द्र तुम आज ही जा रहे हो, अभी ?'

मैंने कहा ट्रेन इतने वक्त जाती है।

बोले आज रह जाओ तो कैसा ?

मैंने कहा जो कहिए लेकिन क्या ?

बोले तुमने अपना गांव तो नहीं देखा है न ? चलो तुम्हें गांव दिखाएंगे। आज इधर ही चला जाए। क्या कहते हो ?'

मैंने कहा अच्छी बात है, चलिए।

बोले यह पास ही तो है होगा ५ ६ मील। कल तुम यहीं ट्रेन पकड़ सकते

ही ? लेकिन कल भी जाकर क्या करोगे ? दो एक रोज गाव म ही रहगे ।"

उसी दिन हम लोग गाव के लिए रवाना हुए । यान कि एक इक्का आया, उसके बीच म एक लकडी का बक्स रखा गया, उसके ऊपर बिस्तर । सामान कुछ वहा इस तौर पर अट गया कि दायें बायें मुश्किल से बठने की जगह रह गई । एक तरफ प्रेमचद बठ दूसरी तरफ शिवरानीजी और मैंने हालत देखकर कहा, 'कोई साइकिल है ?

घर म साइकिल थी, और मैंने साइकिल सभाली । बनारस की सडक तो बनारस की सडक है और इक्का भी खासा छटा हुआ मालूम होता था । याने एक घोडा एक मरगल्ला था और पहियो पर रबर टायर न था । साइकिल पर मैं देखता कि इक्के पर सामान के साथ दोना मूर्तिया उछल उछल आती है और कसके इक्के का डडा सभालकर इक्के पर ही कायम रहती हैं । नीचे जमीन पर नही आ गिरती । और मैं अपनी खैर मनाता । दृश्य कुछ बहुत सुदर न था और मैं साइकिल बचाकर आगे निकल गया । जानता था कि सारनाथ पहुचना है वहीं स पदल गाव चला जाएगा । सारनाथ पर उस रोज मेला भरा हुआ था और मैं सडक पर इक्के का इतजार करन लगा । इक्का आया सडक किनारे सामान उतरा और प्रेमचद तत्परता से बोले, 'जनेन्द्र, जरा यहा ठहरो मैं अभी आया । देखता हू कि इस सामान के लिए कोई आदमी मिल जाए ।' कहकर वह सडक से नीचे उतर गए । छतरी हाथ म थी और तेज चाल से आप खेतो की मेड मेड आगे बढ गए । एक तरफ सामने सारनाथ था, उसके स्तूप और अजायबघर और मन्दिर, दूसरी तरफ नीचे खेत थे और प्रेमचद उसी राह बढते चले जा रहे थे । बक्स पर बठी पीछे बिस्तर से कमर टिकाए शिवरानीजी भरे मेले को देख रही थी और मैं ज्या-त्या अपने को अटकाए था । १० १५ मिनट म प्रेमचद वापस आए । वह देहातियो की आलोचना से परे थ ।

देखो जनेन्द्र इन देहकानियो को । कहते हैं कि रुपया अधेली हाथ आ जाएगी, सामान गाव पहुचा दो । पर यह हैं कि खाली रहगे पर काम न करेंगे । बताओ क्या किया जाए आदमी तो कोई मिला नही ।'

मैंने कहा छोडिए । सामने यह मेला है मैं ऐसा करता हू कि शिवरानीजी को जरा दिखला लाता हू । इतने म कोई आदमी शायद मिल जाए । हम अभी आते हैं ।

नतीजा कि प्रेमचद सडक किनारे सामान के साथ बठे और हम दो चहल-कदमी के लिए निकले । आध-पौन घटे म घूम घामकर आगे प्रेमचद वही विराजमान मिले । बहुत झल्लाए थे । सडक पर यातायात जारी था और उडती धूल स और गुम्म की गरमी स, जनाब का चेहरा अजब खूबसूरत बना हुआ था । वह टूट पडे हमपर, बोले कहा घूम रहे थे अब तक और इतनी देर कर दी ।

उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद

● ज्ञानचंद जैन

प्रेमचंदजी का १९३५ में लिखा एक पत्र मैंने स्मृति के रूप में सजोकर रखा है जिसमें उन्होंने मेरी कहानी की प्राप्ति सूचना देते हुए लिखा था कि उसे 'हंस' में छाप रहे हैं। उस समय मैं बी० ए० में पढ़ता था। कहानियां लिखने और साहित्य सेवा का नया शौक उत्पन्न हुआ था। कुछ कहानियां 'चांद', 'माधुरी' आदि में छप भी चुकी थीं। प्रेमचंदजी उस समय हिंदी के एकछत्र उपन्यास सम्राट थे। उस समय अन्य उपन्यासकार भी साहित्याकाश में चमक रहे थे।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'मां' भी खूब सराही गई थी। सुदर्शन जी ने मुख्य रूप से कहानियों को ही अपना क्षेत्र बनाया था। जयशंकर प्रसाद 'कंकाल' प्रस्तुत कर चुके थे। वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़कुण्डार' भी आ चुका था। जैनेन्द्रकुमार नई पीढ़ी के लेखकों में 'परख' से चमक चुके थे, 'सुनीता' भी आ चुकी थी। अज्ञेय भी उदय हो चुके थे। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' शैलीकार के रूप में अपनी अलग छटा रखते थे। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' भी आ चुकी थी। पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी 'अप्सरा' की प्रस्तावना में प्रेमचंदजी के उपन्यासों को मिलने वाले सम्मान को लक्ष्य करके लिखा था, "इन बड़ी-बड़ी तोंद वाले औपन्यासिक सेठों की महफिल में मेरी दर्गितांबरा अप्सरा उतरते हुए बिल्कुल संकुचित नहीं हो रही। उसे विश्वास है कि वह एक ही दृष्टि से इन्हें अपना अनन्य भक्त बना लेगी।"

प्रेमचंदजी की लोकप्रियता से ईर्ष्या करने वाले छींटाकशी उछाल आलोचकों की भी कमी नहीं थी। अवध उपाध्याय ने बीजगणितीय समीकरणों से सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि 'रंगभूमि' थैकरे की 'वैनिटी फेयर', 'प्रेमाश्रम' टाल्सटाय के 'रिजरेक्शन' तथा 'कायाकल्प' हालकेन के 'इटर्नल सिटी' की नकल है। ठाकुर श्रीनाथसिंह उनसे भी दो जूते आगे निकल गए थे। उन्होंने 'घृणा के प्रचारक प्रेमचंद' लेख लिखकर सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि मुंशीजी ब्राह्मणों के खिलाफ घृणा का प्रचार करते हैं। पं० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने भी

जो 'मोगराम' के नाम से लिखा ही नहीं थे, बल्कि वृद्धि भी रखते थे उनके स्वर में अपना स्वर मिलाया था। प्रेमचंदजी ने जवाब में अपना दुहरायड चलाते हुए लिखा था कि पागड़ अन्याय बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी। ठाकुर श्रीनाथसिंह ने पहला बार विफल होने पर दूसरा वार 'प्रेमचंद की रचना चातुरी का नमूना' लिखकर किया था। उसमें उन्होंने अभियोग लगाया था कि मुन्शीजी ने अपनी कहानी 'जीवन की नाम उनके उपन्यास उलझन' से चुराई है। प्रेमचंदजी ने इसके जवाब में उन्हें 'हल्दी की गांठ वाला पसारी' करार देते हुए लिखा था कि मुझे कुछ दिनों से श्रीनाथसिंह की ऊलजलूल बातें सुन-सुन कर यह भय होने लगा है कि उन्हें सफ्तान या मालीखूलिया हो गया है। मानो खूनिया के लक्षण यही हैं कि उसका रोगी समझता है, लोग उसका माल असबाब ढोए लिए जाते हैं और वह अन्धे कुत्ते की भांति भूकने लगता है। उन्होंने ईंट का जवाब पत्थर से देते हुए आगे लिखा था कि मैं उन्हीं लेखकों की रचनाएं पढ़ता हूं जिनकी प्रतिभा का मैं कायल हूं। ठाकुर श्रीनाथसिंह की प्रतिभा का मैं कभी कायल नहीं रहा। मैं उन्हें कलाकार समझता ही नहीं। हरेक ऐरे गैरे नत्थू-खैरे की रचना पढ़ने के लिए मेरे पास समय नहीं है।

विनोदशंकर व्यास

दशहरे की छुट्टी में जब मैं बनारस गया तो अपने पुराने टीहे मानमंदिर में गंगा के तट पर स्थित विनोदशंकर व्यास के व्यासभवन में ठहरा। प० विनोदशंकर व्यास के नाम से आज के अनेक-से लेखक व पाठक परिचित न होंगे। वह उग्र के समकालीन लेखक थे। कुछ अच्छी भावपूर्ण कहानियां लिखी हैं। उन्हीं प० रामशंकर व्यास के वंशज थे जिन्होंने हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' के पद से आभूषित करने का सर्वप्रथम प्रस्ताव सारसुधा निधि में रखा था। रईस थे। उस काल के रईस अपने जिन गुणों के लिए विख्यात थे वे सब उनमें थे। राधाकृष्णदास वन्द्योपाध्याय ने अपना उपन्यास 'शराबी' उन्हीं के सामने वाले मकान में रहकर लिखा था। उनका व्यासभवन उस काल में साहित्यिकों का अड्डा था। वह रईस ही नहीं विद्यानुरागी तथा साहित्यप्रेमी भी थे। विदेशी उपन्यास खूब पढ़े थे। उन्होंने ही सबसे पहले मधुकरी में समसामयिक कहानी लेखकों का विभाजन प्रेमचंद स्कूल प्रसाद स्कूल और उग्र स्कूल में किया था।

व्यासभवन में सूचना मिली कि प्रेमचंद बनारस में ही हैं। बम्बई की फिल्मी दुनिया से कुछ ही महीने पहले लौटे हैं। आज के लेखक इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि प्रेमचंदजी ने अपने साहित्य की रचना कितने संघर्षों में जूझते हुए की। ७ वर्ष की उम्र में मां का विछोह। १५ वर्ष की उम्र में शादी। शादी

थे। जागरण पहल-पहल व्यासजी न पाक्षिक के रूप मे निकाला था। उद्देश्य था—हिंदी को टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्ट जसा पत्र सुलभ करना। साल भर निकाला अधिक घाटा न उठा सकन पर प्रेमचदजी को दिया। प्रमचदजी ने पहले उसका सम्पादन भार स्वय सभाला फिर सम्पूर्णानन्दजी को सौंप दिया। हिंदी भाषियो म समाजवाद का सबस जोरदार पहले पहल प्रचार जागरण न किया। 'जागरण के कारण जब प्रेस पर ४००० का कज हो गया तो प्रमचदजी ने १९३४ म बन्द कर दिया। 'जागरण और हस दोनों पत्रो का नामकरण प्रसादजी न किया था।

जागरण बद कर दन के निणय स व्यासजी प्रेमचदजी स रुष्ट हो गए थे। मुझसे बोले तुम चल जाओ। चित्रकूट' म रहत हैं। गोवधन सराय स अधिक दूर नही है। सीधी सडक है। आसानी स टहलत हुए जा सकते हो।

मानमन्दिर स गोवधन सराय तक का रास्ता परिचित था परन्तु उसक आगे का रास्ता अपरिचित। फिर भी चल पडा। गर्मी तेज थी। सूरज ठीक सिर पर चमक रहा था। धूप म पदल चलन स पसीने स बुरा हाल हो गया। रास्त मे जिसस पूछता— चित्रकूट कितना दूर है उत्तर मिलता—सीधे चल जाइए, आगे है। धीरे धीरे गुजान इलाके पीछे छूटने लगे। ऐसा मालूम पडन लगा जसे किसी कस्बे म पहुच गए हो। एक इमली के पेड के पास पहुचकर ठिठक गया—छाया देखकर। उस समय मैं धूप स इतना तप चुका था कि जेब मे जो अठन्नी थी उस खच करने को तैयार हो गया। एक खाली तागा जाता दिखाई पडा। उस रोककर पूछा 'चित्रकूट चलोगे ?' ताग वाले ने कुछ आश्चय से उत्तर दिया 'बाबूजी आप चित्रकूट म ही तो खडे हैं। बस सामने चले जाइए।

सुनकर सन्तोष हुआ। एक पानवाले की दुकान पर लेमनड लिया। प्रकृतस्थ हुआ। उसी पानवाले स सरस्वती प्रेस का पता पूछा। उसन बताया—आगे बायें को रास्ता मुडता है। उस रास्ते पर बढते ही सरस्वती प्रस का साइन बोड दिखाई पडा। फाटक लाघकर भीतर अहाते मे पहुचा। अहाते में फूल फुलवारी कुछ न थी। चारो ओर सन्नाटा था। एक मालीनुमा आदमी आता दिखाइ पडा। उसस पूछा प्रमचदजी है ? उसने कहा 'बाबूजी हमका मालूम नाही। भीतर आगन मे जाय क पूछ लेओ। मैं खुले दरवाजे स भीतर आगन म घुसा तो चारो ओर टाइप कस आदि पडे देखकर समझ गया कि प्रेस का काम इस दुमजिले मकान की नीचे की मजिल म होता है। आगन म कोई व्यक्ति नही था। उस दिन प्रेस म छुट्टी थी। मैं सोचने लगा—किस तरह अपने आने की इत्तिला करू। कोई कालबल भी नही दिखाई पडी। नाम लेकर आवाज देना अशिष्टतापूण लगा। प्रेमचदजी मरे पिता की पीढी के थे। उनकी और मरी आयु म कम से कम ३७ ३८ वष का अन्तर रहा होगा।

एकाध मिनट पशोपेश में ठिठका खड़ा रहा। तभी ऊपर छज्जे पर एक अधेड़ महिला दिखाई पड़ा। दबंग चेहरा, पान की पीक होठों से बहती हुई। बाद में पता चला, वह श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द थी। उनकी कुछ कहानियां पढ़ चुका था। उस समय महिला कहानी-लेखिकाओं की संख्या उंगलियों पर गिनी जाने लायक थी। बिलकुल प्रेमचंद की शैली में लिखती थी।

व्यासभवन में सुना था कि श्रीमती शिवरानी प्रेमचंदजी की दूसरी धर्मपत्नी हैं। उन दिनों समाज जिन अनेकानेक कुरीतियों से जर्जर हो चुका था, उनमें अनमेल विवाह भी था। प्रेमचंदजी भी उसके भुक्तभोगी थे। १५ वर्ष की अबोध उम्र में जो लड़की उनके गले में बांध दी गई वह बेहद मूर्खा और कर्कशा थी। उम्र में भी अधिक और बहुत बदशक्ल। प्रेमचंदजी ने गले पड़े फंदे को १० साल तक निभाने का प्रयास किया, जब दाम्पत्य जीवन एकदम नरकतुल्य हो गया तो पत्नी को हमेशा के लिए मायके भेज देने के लिए विवश हो गए। प्रेमचंदजी उन समाज सुधारकों में न थे जिनके ऊपर 'दीया तले अंधेरा' वाली कहावत चरितार्थ होती है। दूसरा विवाह इसी शर्त पर करने को तैयार हुए कि किसी विधवा कन्या से सम्बन्ध करेंगे। शिवरानीजी का पहला विवाह १०-११ साल की उम्र में हुआ था, पर पति के घर जाने का अवसर न आया था तीन महीने बाद ही विधवा हो गई थी।

प्रेमचंद—पहली भेंट

शिवरानीजी को जब मैंने बताया कि मैं लखनऊ से आया हूं और प्रेमचंदजी से भेंट करना चाहता हूं तो उन्होंने मृदु कण्ठ से कहा, 'उधर जीने से ऊपर चले आइए।' ऊपर पहुंचते ही बैठकखाना दिखाई पड़ा और बैठकखाने के अन्दर से आवाज आई 'आओ।' बैठकखाने में कोई खास सजावट नहीं थी। फर्नीचर भी मामूली था। जमीन पर दरी और चादरें बिछी थीं और उस पर एक अधेड़ उम्र के सज्जन बैठे थे। बड़ी-बड़ी घनी अधपकी मूछें। मझोला कद। चेहरा बड़ा ही सौम्य। बाल अस्त-व्यस्त। आंखों में बच्चों जैसी सरलता और सादगी। कहीं कोई बनावट नहीं। चित्र से आकृति परिचित थी इसलिए देखते ही पहचान लिया कि यही प्रेमचन्दजी हैं।

मैं प्रेमचंदजी से कुछ फासले पर फर्श पर ही बैठ गया। पास में ही एक पाण्डुलिपि रखी थी। मेरे आने से पहले शायद उसे ही देख रहे थे। वह उनके नवीनतम उपन्यास 'गोदान' की पाण्डुलिपि थी। बताने लगे, अब समाप्ति पर है। बड़े ही घरेलू ढंग से बातचीत शुरू की। मेरे परिवार माता पिता आदि के बारे में पूछा। जब मालूम हुआ कि अभी पढ़ता हूं तो पूछा पढ़ने के बाद क्या इरादा है? जब बताया कि अभी कोई स्पष्ट कार्यक्रम नहीं है परन्तु इतना निश्चय कर

रखा है कि सरकारी नौकरी नहीं करूंगा तो ठहाका लगाकर हंस पड़े।

उनका ठहाका कई दिना तक कानों में गूंजता रहा। मैंने उस समय तक कई साहित्यकारों के दर्शन किए थे—जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', शिवपूजन सहाय, भगवतीचरण वर्मा, जनेंद्रकुमार हरिवंशराय 'बच्चन'; परन्तु इस प्रकार उन्मुक्त ठहाका लगाते किसीको नहीं सुना था। जैसे उनके अन्दर या बाहर कोई गांठ न थी। उनका चेहरा भले ही गमजदा दिखाई पड़ता हो परन्तु जब हंसते थे तो चेहरे पर की चिन्ता की सारी रेखाएं गायब हो जाती थीं। चेहरा सुर्ख हो जाता था और आंखों के आसपास झुर्रियां पड़ जाती थीं। कहकहे लगाते चले जाते थे जैसे अपना दुःख खुद पीकर हंसी सबको बांट देना चाहते हों।

उन्होंने मुझसे लखनऊ के साहित्यिक हालचाल पूछे। पं० रूपनारायण पाण्डेय और पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के बारे में पूछा। पं० रूपनारायण पाण्डेय को अब लोग भुलाते जा रहे हैं परन्तु 'माधुरी' और 'सुधा' के सम्पादक के रूप में उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता की जो सेवा की है कभी भुलाई नहीं जा सकती। उन्होंने एक और बड़ा काम किया। रवीन्द्रनाथ टाकुर, शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय और बांग्ला के अन्य श्रेष्ठ उपन्यासकारों के उपन्यासों का अनुवाद करके हिन्दी पाठकों में सुरुचिपूर्ण उपन्यासों को पढ़ने की भूख जगाई। एक प्रकार से प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का पाठकवर्ग तैयार करने के लिए एडवांस पलटन का काम किया। प्रेमचन्दजी भी कभी 'नवलकिशोर प्रेस' में टेक्स्ट बुक और 'माधुरी' के सम्पादन का वही काम कर चुके थे जो उस समय पाण्डेयजी कर रहे थे। गंगा पुस्तक माला में भी पाण्डेयजी उनके सहयोगी थे। निरालाजी अक्सर बनारस जाते रहते थे और कभी प्रसादजी के यहां तो कभी व्यासभवन में, कभी वाचस्पति पाठक के साथ तो कभी किसी और के साथ ठहरते थे। बनारस जाने पर प्रेमचन्दजी से अवश्य मिलते थे। प्रेमचन्दजी का पूरा परिवार उनसे परिचित था।

प्रेमचन्द की पसन्द के लेखक

मैं उनके पास लगभग डेढ़-दो घण्टे बैठा। विविध विषयों पर गपशप होती रही। यूरोपीय कथा-साहित्य पर लम्बी बातचीत हुई। मोपासां, चेखव, ओ हेनरी, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव, टाल्स्टाय, गुस्टाव फ्लाबेर, अलेक्जेण्डर ड्यूमा, डिकेन्स आदि की चर्चा हुई। मोपासां की अपेक्षा चेखव उनको अधिक प्रिय थे। चेखव को वह छोटी कहानियों का बादशाह मानते थे। तुर्गनेव भी अच्छे लगते थे। टाल्स्टाय उनके हृदय के अधिक निकट थे। ड्यूमा के भी प्रशंसक थे। डिकेन्स के 'पिकविक पेपर्स' पर तो आशिक थे। गोर्की को भी खुलकर दाद दी। रोमां रोलां की 'ज्यां क्रिस्तोफ' को वह उच्चकोटि की कलाकृति मानते थे। कुप्रिन

की 'यामा' ने भी उन्हें बहुत प्रभावित किया था। साहित्य में यह यथार्थवाद के कायल थे, परन्तु पश्चिमी के नग्न यथार्थवाद के समर्थक न थे। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-बोध न जागृत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे उसे वह व्यर्थ का साहित्य मानते थे। उनकी मान्यता थी कि ऊंचा साहित्य वही है जो जीवन की आलोचना और व्याख्या करे। जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे। हमें सुलाए नहीं, बल्कि हमें जाग्रत करे। वह साहित्य को जीवन की व्याख्या का दर्पण मानते थे। वह समाज में साहित्यकार का दायित्व बहुत ऊंचा मानते थे—राजनीति से भी ऊंचा। उसका लक्ष्य मात्र मनोरंजन की सामग्री जुटाना नहीं होता। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई नहीं, वरन उनके मशाल दिखाते हुए चलनेवाली सच्चाई है। वह मानते थे कि समाज तथा देश के नवनिर्माण में साहित्यकारों की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

प्रेमचंदजी में मैंने एक विशेषता और पाई। वह नये लेखकों को खूब प्रोत्साहन देते थे। आज पीढ़ियों के अंतर की चर्चा बहुत होती है, परन्तु उनके सान्निध्य में यह अन्तर लोप हो जाता था। मैं उनके सामने एक नितान्त नौसिखिया लेखक था परन्तु इस तरह बातचीत की जैसे दोनों में बराबरी का सम्बन्ध हो, कहीं से यह भान नहीं होने दिया कि वह किसी ऊंचे धरातल पर हैं। मेरे और उनके वय में १ और ३ का अन्तर था, फिर भी उन्होंने बिलकुल दोस्ताना व्यवहार किया। शिष्टता और सौजन्य की मूर्ति थे। अहंकार छू नहीं गया था। भीतर और बाहर जैसे एक थे। व्यवहार में कोई आडम्बर छल-कपट का दुराव नहीं। फल से लदे वृक्ष की भांति जो आदमी जितना बड़ा होता है उतना ही नम्र होता है, यह बात उनके सान्निध्य में बार-बार अनुभूत हुई। उनकी तबियत में खुलेपन बेलौस सादगी जिंदादिली सबके साथ भाईचारे का व्यवहार—इन सब बातों ने मेरे मन पर अमिट छाप डाली।

बातचीत के दौरान सिर्फ एक बार शिवरानीजी की झलक दिखाई पड़ी। वह पान की डिबिया देने दरवाजे तक आई। प्रेमचंदजी ने उनसे परिचय कराया तो कुछ मिनट अन्दर आकर बैठीं और बातचीत में हिस्सा लिया। फिर किसी काम की याद आने पर उठकर भीतर चली गई।

प्रेमचन्दजी से प्रथम साक्षात्कार में मेरे मन पर उनकी जो तस्वीर बनी वह उतनी ही उदात्त थी जितनी उनके उपन्यासों और उनकी कहानियों को पढ़कर मन में बनी थी। मैंने बार-बार यह अनुभव किया कि मैंने सचमुच आज एक बड़े आदमी के दर्शन किए हैं एक ऐसे बड़े आत्मा के जो बाहर में देखने पर हम आप जैसा

बिल्कुल साधारण दिखाई पड़ता है, परन्तु उसके सम्पर्क में आने के बाद उसकी महानता का अहसास होता है। उसकी महानता कहीं ऊपर से किंचित आरोपित नहीं थी वह उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग थी। यही अनुभूति गांधीजी से प्रथम साक्षात्कार में भी हुई थी।

डूबता हुआ सूर्य

इस प्रथम दर्शन के बाद केवल एक बार और भेंट का अवसर मिला। अगले साल दशहरे की छुट्टियों में आस पास जब फिर बनारस जाने का अवसर मिला तो वह सख्त बीमार थे। अप्रैल में प्रगतिशील लेखक संघ का सभापतित्व करने लखनऊ गए थे। वहां से लौटकर जून में जो खाट से लगे तो फिर न उठे। मेरे पिता की बदली आगरा हो चुकी थी और मैं लखनऊ विश्वविद्यालय से बी० ए० करने के बाद आगरा कालेज में ला कर रहा था। इसलिए प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में जब लखनऊ आए थे तो दर्शन करने का अवसर न मिल सका था। बनारस जब पहुंचा तो लखनऊ से एक्स रे कराकर लौटे कुछ सप्ताह हुए थे। जैनेन्द्रकुमारजी भी उन दिनों बनारस में थे। निरालाजी भी वहीं थे। सरस्वती प्रेस में उनकी 'गीतिका' छप रही थी। प्रेमचंदजी वायु परिवर्तन के लिए चित्रकूट वाला मकान छोड़कर भारतेंदु हरिश्चंद्र के रामकटोरा बाग वाले बंगले में चले गए थे। जब देखा तो पहचानना मुश्किल हो गया। एक एक हड्डी निकल आई थी। चेहरा एकदम पीला। आंखें गड्ढे में धंसी हुई। हाथ-पैर सूखे कांटे की तरह। आवाज बहुत ही कमजोर। पेट एकदम फूला हुआ। शरीर में बस पेट ही पेट नजर आता था। शिवरानीजी बराबर तीमारदारी में आस पास होना करती थीं। घर में देखने के लिए आनेवाले सम्बन्धियों का तांता लगा हुआ था। जिस दिन मिलने गए उससे पहली रात को तबीयत ज्यादा खराब हो गई थी। उन्होंने मुझे देखकर जब हाथ जोड़े तो मेरी आंखें नम हो गईं। आंखों में कितनी व्यथा थी!

ऐसा मालूम पड़ता था कि उन्होंने अपने अंतिम उपन्यास का नामकरण जब 'गोदान' किया तो उसके पीछे प्रारब्ध का कोई संकेत रहा हो। 'गोदान' कुछ ही महीने पहले बाजार में आया था।

बनारस से लौटने के बाद 'भारत' में निरालाजी का लेख पढ़ा। प्रेमचंदजी को हिन्दी के युगान्तर साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न, अन्तर्प्रान्तीय ख्याति के हिन्दी के प्रथम साहित्यिक, प्रतिकूल परिस्थितियों से निर्भीक वीर की तरह लड़नेवाले, रचना प्रतियोगिता में विश्व के अधिक से अधिक लिखनेवाले मनीषियों के समकक्ष आदि विशेषणों से युक्त करते हुए उन्होंने हिन्दी पत्र-सम्पादकों को बड़ी फटकार बताई थी, कितने दुःख की बात है हिन्दी के जिन पत्रों में हम राजनीतिक

नेताओं के मामूली बुखार का तापमान प्रतिदिन पढ़ते रहते हैं, उनमें श्री प्रेमचद-जी की हिंदी का महान उपकार करने वाले प्रेमचदजी की अवस्था की साप्ताहिक खबर भी हम पढ़ने को नहीं मिलता। दुःख नहीं, यह लज्जा की बात है। हिन्दीभाषियों के लिए मर जाने की बात है।' इसके बाद ही 'लीडर' में समाचार छपा कि ८ अक्टूबर, १९३६ को उनका देहान्त हो गया।

प्रेमचन्दजी सच्चे देशभक्त थे। उनका एकमात्र सपना यही था कि उनका देश भी स्वाधीन हो उनका समाज ऊंचा उठे। इसी सपने को चरितार्थ करने के लिए साहित्य रचना में प्रवृत्त हुए। उनके साहित्य में युग का जो चित्र मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह अपने युग के सच्चे इतिहासकार थे। उनका सपना इतना ही नहीं था कि हमारे देश में अपना राज हो, वह यह सपना भी देखते थे कि हमारे देश में भी सच्चा किसान मजदूर राज हो। देश को उठाने के लिए इसे आवश्यक मानते थे। उनका यह सपना आज भी अधूरा है। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षधर थे। उनको सच्ची राष्ट्रीयता के विकास के लिए आवश्यक मानते थे। भाषा को वह राष्ट्र की बुनियाद, राष्ट्र की आत्मा मानते थे। इसीलिए कौमी भाषा के जबदस्त समर्थक थे। देश के ऊपर से अंग्रेजी का जुआ उतार फेंकने के लिए सबको प्रेरित करते रहते थे। वह साहित्यकार को समाज का झण्डा लेकर चलनेवाला सिपाही मानते थे। उनका विचार था कि साहित्य-मंदिर में उन उपासकों की आवश्यकता है जिनके दिल में अपने देश और समाज के लिए दर्द हो तड़प हो, मुहब्बत हो। इकबाल की कुछ पंक्तियां अक्सर दुहराया करते थे जिनका आशय था— अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलेगा—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। उड़ने में मुझे जो आनन्द मिलता है उसके मारे मैं कभी घोसले में नहीं बैठता—कभी फूलों की टहनियों पर तो कभी नदी किनारे चक्कर लगाता हूं। प्रेमचन्दजी के सपनों के समाज के निर्माण में योगदान करके ही हम उनके प्रति अपनी वास्तविक श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

मुन्शी प्रेमचद

○ ठाकुर श्रीनाथसिंह

मुन्शी प्रेमचद की तीव्र आलोचना करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। आज जब वह नहीं हैं तब मैं सोचता हू कि कोप के उन कटु और पने शब्दो का प्रयास क्या आगे भी कभी सम्भव हो सकता है ? कदाचित् ही कोई साहित्यिक हो, जो कटु आलोचना से तिलमिला न उठे। प्रेमचदजी हिन्दी में ऐसे साहित्यकारो के अपवाद थे। साहित्य की आलोचना विचार सागर का मथन ही है। इस मथन से अमृत और विष दोनो निकलते हैं। अमृत-पान म तो सभी हिस्सा बटा सकते हैं पर विष पान के लिए शकर का कण्ठ और धैर्य चाहिए। प्रेमचदजी हिन्दी के ऐसे ही स्वयम्भू साहित्यकार थे।

चन्द्रकान्ता के बाद हिन्दी का दूसरा मौलिक उपन्यास सेवासदन था जिसे मैंने अपने बचपन म पढ़ा था। उस उपन्यास के लेखक प्रेमचदजी का दर्शन करने की मेरी बचपन से ही बडी इच्छा थी पर इसका अवसर सन १६२८ म उस समय आया जब वह स्थानीय साहित्य गोष्ठी की ओर से सयोजित गल्प सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए प्रयाग पधारे। वह घुटनो तक लम्बी शेरवानी में लिपटे हुए थे। सिर पर बाकायदे कटे छटे लगभग चार अगुल लम्बे केश थे। पर जान पडता था मानो नाई की कची और कघी के बाद फिर किसी मनुष्य का हाथ उन बालो पर नही फिरा था। चेहरे पर दोनो ओर से आधी दूर तक कटी लम्बी मूछें थी और वह बात-बात मे इतना अधिक और इतने जोर से हसते थे कि हसी से सारा चेहरा ढक सा जाता था। उस समय केवल वे लम्बी मूछें ही यह पता दे सकती थी कि मुह कहा है।

या तो उसके बाद कई एक गल्प-सम्मेलन हुए हैं पर वह कदाचित प्रथम और अन्तिम गल्प सम्मेलन था जिसमे प्रेमचदजी उपस्थित थे और जिसमे उन्होंने स्वरचित एक कहानी सुनाई थी। वह कहानी आज भी स्मृति पट पर अकित है एक गरीब देहाती एक डाक्टर के बगले पर उपस्थित होता है। कहता है—हुजूर मेरा लडका सख्त बीमार है। आजकल का मेहमान है चलकर

देख लीजिए। पर उसके हज़ार अनुनय विनय करने पर भी डाक्टर टस से मस नहीं होता और उस बंगले से बाहर निकलवा देता है। बेचारा देहाती घर लौट आता है और उसका लड़का मर जाता है। कुछ दिनों के बाद उन्हीं डाक्टर साहब के पुत्र को सांप काट लेता है। सब प्रयत्न विफल हो जाते हैं। पर वह देहाती सांप का मंत्र जाननेवाला निकलता है। बिना बुलाए पूर्व तिरस्कार को भूलकर वह डाक्टर साहब के बंगले पर उपस्थित होता है और मंत्रोपचार से उनके लड़के को अच्छा कर देता है। फिर वह धन्यवाद लेने के लिए भी नहीं ठहरता। अपनी सांप काटे को अच्छा करने की इच्छा और धुन को शांत कर तुरंत वहां से कूच कर देता है और अदृश्य हो जाता है।

यहां खास तौर से इस कहानी का जिक्र मैंने इसलिए किया है कि प्रेमचंद जी की साहित्य सेवा बहुत कुछ उसी देहाती की भांति अपुरस्कृत रही है। सरकारी नौकरी का परित्याग कर, सुख से चलती हुई गृहस्थी को अर्थाभाव के कारण संकटापन्न बनाकर और धन सम्पन्न होकर सुखी होने के अवसरों को गंवाकर उन्होंने उसी देवता स्वरूप देहाती की भांति मान अपमान का कभी कोई विचार न करके हिन्दी को बार बार नवजीवन देने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में उन्होंने अपने आपको मिटा दिया, पर आज उन्हीं की बदौलत हमारा कथा-साहित्य दृढ़ नींवों पर विकसित हो रहा है।

साहित्य-गोष्ठी का गल्प सम्मेलन समाप्त न हुआ था कि प्रेमचंदजी को वायवश वहां से चला जाना पड़ा। सम्मेलन के कार्य-संचालन का भार श्री सुदर्शनजी को और अपनी जोरदार हंसी उपस्थित लोगों के अधरों को देकर और नगर निवासियों के हृदयों में एक असभ्य और जर्जरित देहाती के लिए दर्द पैदा कर वह जब वहां से उठे तब इन पंक्तियों का लेखक भी कुछ दूर तक उनके साथ गया। विदा होते समय उन्होंने कहा—मेरी एक बात मानोगे?

मैंने कहा—कहिए।

वह जोर से हंसे और बोले—गल्प शब्द से मुझे चिढ़ है। कोई मुझे गल्प-लेखक कहता है तो जान पड़ता है मानो वह मुझे गाली दे रहा है। बंगला में गल्प शब्द का चाहे जो अर्थ हो पर हिंदी में यह गप्प (मिथ्या कथन) का पर्याय-वाची हो रहा है। इसकी जगह सीधा सादा शब्द कहानी का प्रयोग आप लोग क्यों नहीं करते? गल्प असत्य है कहानी सत्य। गल्प विजातीय है कहानी बचपन से ही हमारे रोम रोम में भिदा है।

हमारे एक मित्र ने कहा—पर गल्प साहित्यिक और सरल शब्द है।

प्रेमचंदजी ने अट्टहास किया और कहा—जान पड़ता है आपको नानी का याद नहीं है नहीं तो कहानी शब्द की आप इतनी उपेक्षा न करते। यह

कहने के बाद वह और भी जोर से हँसे और ऐसे भागे मानो उसी हँसी में उड़ गए हों।

उसके बाद प्रेमचंदजी से बराबर मेरा मिलना जुलना होता रहा और ऐसे भी प्रसंग आए जो अत्यन्त अप्रिय कहे जा सकते हैं। पर उन प्रसंगों का जीवन सदैव क्षणिक रहा। प्रेमचंदजी को मैंने विवाद में उत्तेजित होते हुए भी देखा है पर उनकी हँसी का हथौड़ा उनके सुख दुःख पर बराबर चलता रहा और मेरा-उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध सदैव वैसा ही प्रेममय और सुन्दर बना रहा जैसा कि आरम्भ हुआ था।

बनारस के कुछ साहित्यिक मित्रों ने 'जागरण' नाम का एक सुन्दर साहित्यिक पत्र निकाला था। पर वे उसे चला न सके और उन्हें उसके बन्द करने की घोषणा करनी पड़ी। प्रेमचंदजी को यह नाम और पत्र पसन्द था। उन्होंने उसको कुछ दिन और जीवित रखने की चेष्टा की और उसे अपनाना चाहा। उन्हीं दिनों बनारस जाने पर मैं प्रेमचंदजी के घर पर हाजिर हुआ। वे अपने लिखने के कमरे में फर्श पर दरी के ऊपर बिछी एक सफेद चद्दर पर पेट के बल लेटे हुए थे और अपनी धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानीदेवी की एक कहानी दुरुस्त करने में तल्लीन थे। मैंने बैठते ही कहा—इस प्रकार लिखना पढ़ना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। बेहतर हो कि आप मेज के सहारे कुर्सी पर बैठकर लिखा करें।

प्रेमचंदजी ने कहानी को एक ओर और पेंसिल को दूसरी ओर रखते हुए कहा—थोड़ा-बहुत लिखना हो तो कुर्सी मेज का सहारा भी लिया जा सकता है। जिसे रात दिन लिखना, लिखना और लिखना ही पड़े वह क्या करे ? हिंदी में भी शार्ट हैंड और टाइप करने वाले मिल सकते हैं। और हम लोग दिनभर में जो लिखते हैं वह मजे में दो एक घंटे में लिखा सकते हैं। पर उन बेचारों की तनख्वाह कौन दे ? यहाँ तो इतना लिखकर अपना पेट भी भरना सम्भव नहीं है। हिंदी में वह युग आएगा जब लेखक इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकेंगे, पर तब हम लोग न रहेंगे। उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास ली। उनके ऊपर 'हंस' के सम्पादन का भार तो था ही, उन्हें अपने निजी प्रकाशन और प्रेस की देख रेख भी करनी पड़ती थी। वह काम के पहाड़ के नीचे दबे हुए थे और थकान के चिह्न उनके चेहरे पर स्पष्ट थे। इसपर भी वह एक साप्ताहिक का नया भार उठाने जा रहे थे। साहित्य सेवा को वह छोड़ नहीं सकते थे और उसमें समय लगाने के बाद जीवित रहने के लिए यह अधिक परिश्रम आवश्यक था। इस अधिक परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता गया और हिन्दी के अनेक मौलिक उपन्यास जो उनके नवीन अनुभवों और तर्कों से मुक्त होकर संसार में हिन्दी का मस्तक ऊँचा करते हमारे सामने ध्यान से रह गए।

लखनऊ-काग्रेस के बाद मेरी उनकी भेंट नागपुर सम्मेलन मे हुई। जहा हम लोग ठहरे थे, वहा स थोडी-सी दूर पर एक बाग म हरी घास के फश पर मु'शी प्रमचदजी कई मित्रा के साथ बठे हुए थे। उनस मुझे एक एसे विषय पर कुछ बातें करनी थी जिसका यहा जिक्र न करना ही अच्छा होगा। वह कुछ उदास और थके हुए स थ। मैंने कहा—प्रेमचदजी, सम्मेलन का समय हो रहा है। चलिए न, रास्त म कुछ बातें होती चलेंगी।

प्रमचदजी न कहा—सम्मेलना से मरा मन भर गया है। मरा खयाल है, जिसे कुछ साहित्यिक साधना करनी हो, वह अपन आपको सब प्रकार की सभाओ स जितना ही दूर रखे उतना ही अच्छा। साहित्य परिषद से मुझे जरूर दिलचस्पी थी और, सच पूछो तो उसीके लिए मैं यहा आया था, पर उसने भी मरा मन खट्टा हो गया है।

इस सम्बन्ध म मैंने और भी बहुत कुछ प्रश्न किए पर उन्होने विशेष बतलाने स इनकार कर दिया। आज जब देखता हू कि साहित्य परिषद वाले दिल्ली से अपना पथक पत्र निकालने जा रहे हैं और प्रेमचदजी मरण शय्या से उसके बधन म मुक्त होकर 'हस' निकालन की घोषणा करत हैं तब प्रेमचदजी की उस समय की मनोव्यथा का अथ समझ म आ जाता है। उन्होंने अनुभव किया था कि साहित्य परिषद हिन्दी का समुचित आदर नही करती। कदाचित इससे उनके दिल को चोट भी पहुची थी और इसीलिए 'हस' के पुन प्रकाशन के सम्बन्ध म उसके व्यवस्थापक की ओर स जो वक्तव्य छपा था उसम निम्नलिखित पक्तिया भी आई थी इस बार हिन्दी में ही उत्कृष्ट साहित्यकारा और विचारकों की सगठित शक्ति प्राप्त करन की अधिक चेष्टा की जाएगी ताकि हिन्दी अपन पैरों के बल खडी होकर सम्मानित हो सके।

वह हिन्दी के कितने जबदस्त हिमायती थे, यह उनकी अपनी इस अन्तिम वाणी स स्पष्ट है। खेद है कि अपने इस दढ निश्चय को काय का रूप देने से पहले ही वे स्वगवासी हो गए और आज उनके स्थान की पूर्ति करन वाला कोई नहा है। हिन्दी के कथा-साहित्य को उन्होंने अपन हृदय के रक्त से सीचकर पल्लवित किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी म जो युग आरम्भ हुआ था, उसके वह नता थ। उन्होंने लगभग एक दजन उपयास और तीन सौ के ऊपर कहानिया लिखी हैं। दो-तीन नाटक भी उन्हान लिखे हैं और अग्रेजी से कतिपय उपन्यासों और नाटकों का अनुवाद भी उन्हाने सफलतापूवक किया है। उनस मतभेद हो सकता है पर उनका ध्येय पवित्र था। वह हिन्दी के टगोर, शरत् और सब कुछ थ। साहित्य ही नहीं वह सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र म भी सक्रिय भाग लत रहत थे। विधवा विवाह करके उन्हान अपनी सामाजिक प्रगतिशीलता का परिचय दिया था और अपनी पत्नी श्रीमती शिवरानीदेवी को जेल भिजवाकर

उन्होंने देश की स्वाधीनता के युद्ध में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। यदि उन्हें वे सुविधाएं प्राप्त हो सकतीं जो विश्वविख्यात अन्य साहित्यकारों को प्राप्त हैं तो उन्होंने अपनी कृतियों से आज संसार को चमत्कृत कर दिया होता। पर जीवन में दुर्दमनीय अभावों के होते हुए भी उन्होंने जो कुछ कर दिखाया है, वह हम हिन्दी वालों के लिए गर्व और गौरव का विषय है।

प्रेमचद एक चित्र

● देवेन्द्र सत्यार्थी

मूछें घनी और बडी-बडी सिर पर गाधी टोपी स दोना तरफ और गदन पर निकले हुए बेतरतीब-से बाल, आखो मे अनुभव की चमक—इन तीन चीजा का मुझपर विशेष प्रभाव हुआ जब अक्तूबर १९३१ मे लखनऊ म प्रेमचद स भेंट हुई। मैं एकदम अनात और अपरिचित व इतन सुविख्यात।

सुबह के दस बजे हाग। छुट्टी का दिन था। वह फश पर बैठे लिख रहे थ। पडोस क एक लडके की मदद स मैं ठीक उस कमर के दरवाजे पर जा पहुचा था जिसम बठकर वह लिखा करते थे। परिचय हुआ। "मैं सीधा बनारस स आ रहा हू लग हाथ लमही भी दख आया था, मैंने बताया। कलम छोडकर वह मेरी तरफ देखन लग और कहकहा लगाकर बोल, 'लखनऊ म रहना पडता है। बडी मजबूरी है। लेकिन मेरा दिल ता लमही म बसता है!'

मैंन कहा मैं जल्दी मे नही हू। आप जो लिख रह थे, पूरा कर सकते हैं। फिर बातें हागा मजे से।'

उन्होंने कलम उठाकर फिर लिखना शुरू कर दिया। बोल, गुस्ताखी माफ। मैं खुद यही कहन वाला था कि एक मकाम ऐसा भी आता है जहा कलम रोकना कठिन हो जाता है।'

वह लिखत रह। मैं बैठा दखता रहा। आप कुछ पढ सकत हैं, चाह तो!' कुछ क्षणा के बाद उन्होंने मेरी तरफ देखकर कहा।

'मैं मजे में हू।" मैंन कहा, 'आप लिखिए।

वह या लिख रह थ जस कोई अज्ञात शक्ति स्वय उनकी लखनी को आग बढा रही हो। सचमुच मैं यही इच्छा लेकर पहुचा था कि इन आखा स सेवा-सदन और 'रगभूमि' के लेखक को लिखते दख सकू। मेरी खुशी का कोई ठिकाना न था। उनकी कुछ कहानिया को तो मैंन तीन-चार बार पढ रखा था, हर बार यही खयाल आया था कि लिखन वाले का कलम चूम लिया जाए। अब मौका था। पर अब तो लेखक अपना काम कर रहा था। बठे बठे खयाल आया कि लेखक

की कलम यो दौड़ रही है जैसे रंगभूमि का सूरदास दौड़ा करता था, पर शायद लेखक के सामने यह कहना ठीक नहीं रहेगा यही सोचकर इस उपमा को वहीं दबा दिया जहां से यह उठी थी। मैंने फिर सोचा लेखक की कलम अभी रुकेगी नहीं आज तो शायद वह अपनी मंजिल पर पहुंचकर ही दम ले सकती है। एक दो बार खयाल आया कि झूठ मूठ के लिए ही सही कोई किताब उठा कर पन्ने पलटता रहूं। यो खाली बैठना तो हिमाकत की हद है और वह भी इतने बड़े लेखक के यहां। आखिर वह क्या समझेगा कि अजब अहमक से वास्ता पड़ा जिसे पढ़ने का जरा शौक नहीं और मुंह उठाकर चला आया एक लेखक से मिलने। पर मैं पूरी सच्चाई बरतना चाहता था। मैं ठीक यही भावना लेकर पहुंचा था कि किसी तरह यह मौका जरूर हासिल करूंगा कि लेखक को कलम से काम करते देख सकूं।

घड़ी की सुई बारह पर पहुंची तो उन्होंने कलम रख दी और कहकहा लगा कर बोले लिखना भी बड़ी तपस्या चाहता है।'

'जी हां। मैंने सुर भरा।

'कमरा बन्द रखता हूं लिखते वक्त, आज गलती से खुला रह गया था।'

"मेरे लिए रास आई यह गलती।'

आपकी बात नहीं कर रहा था। आप तो मेहमान हैं।

उन्होंने झट अन्दर कहला भेजा मेहमान आए हैं। अच्छी-सी दावत मिलनी चाहिए।'

'मुझे दावत नहीं चाहिए' मैंने कहा, 'एक इच्छा तो पूरी हुई कि आपको लिखते हुए देख लिया एक इच्छा और रहती है बस

"वह क्या?

'बातचीत तो अभी हुई ही नहीं।'

अब हाजिर हूं उसके लिए। हां, भई दावत की बात इसलिए कहलवाई है कि छुट्टी का दिन भी तो है मजा रहेगा।

तो आप छुट्टी के दिन भी लिखते हैं'

छुट्टी के दिन ज्यादा लिखता हूं। और दिन तो दफ्तर की मारा-मारी रहती है। छुट्टी का दिन आता है खासतौर पर अपना काम करने के लिए—रुके हुए काम को पूरा करने के लिए।'

तो गोया आप छुट्टी नहीं मनाते?

'अजी बस तो छुट्टी ही छुट्टी है कौन सी कुदाल चलाता हूं।

'कलम से कुदाल का काम लेने का फन तो जानते हैं न आप।

अब इसके सिवा तो चारा नहीं।'

'क्या मैं पूछ सकता हूं कि लेखक क्यों लिखता है?'

"अजी लेखक इसलिए लिखता है कि लिखे बिना रह नहीं सकता। अपनी बात कहूं तो सबसे पहले यही साफ करना होगा कि कहानी के लिए अनुभव का होना सबसे जरूरी है। मेरा मतलब है मैं किसी न किसी सच्चाई को व्यक्त करना चाहता हूं, अपनी हर कहानी में और यह काम केवल कोई घटना दिखा-कर ही नहीं किया जा सकता। इसमें कोई नुक्ते की बातें जरूर होनी चाहिए जो ठीक क्लाइमेक्स पर पहुंचा दें।"

'महीने में कितना काम कर लेते हैं?'

'महीने में कम से कम दो कहानियों का औसत रखना पसन्द करता हूं। ऐसा भी हुआ है कि कई कई महीने एक भी कहानी सामने नहीं दिखाती।'

'तो कहानी भी बड़ी नटखट चीज है, उसे लेखक से अठखेलियां करने में मजा आने लगता है।"

'किसी हद तक।'

आप इस ओर कैसे आए?"

'इसे एक कुदरती लगाव समझ लीजिए।"

'लिखते वक्त नयेपन के तो आप अवश्य कायल होंगे?"

'अगर नयेपन का मतलब है अनुभव की ताजगी और जीवन की किसी अछूती सच्चाई की तलाश में कामयाबी पाने की धुन तो मैं हर सूरत में नयेपन का कायल रहा हूं।'

'आपकी जो कहानियां सबसे ज्यादा पसन्द की गई, क्या उन्हें लिखते वक्त आपने सोचा था कि उन्हें इतनी सफल कहानियां समझा जाएगा?"

"इसका पता लगना कठिन है। यह पढ़नेवालों पर है कि वे लेखक की कामयाबी की दाद दें और उसके अच्छे-बुरे की परख करें।'

तो गोया स्वयं लेखक को इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए?'

कर सके तो क्या बुरा है? पर मुझे अपनी आलोचना पर उतना भरोसा नहीं रहता।'

एक कहानी लिखने में कितनी देर लग जाती है?'

'कहानी तो एक दो सिटिंग में ज्यादा नहीं मांगती।"

'अब आप उपन्यास के बारे में भी कहिए।'

"उपन्यास के लिए हर रोज ठीक वक्त पर लिखना शुरू करता हूं और ठीक वक्त पर कलम रख देता हूं।

'पहले दिन के लिखे हुए के साथ दूसरे दिन जोड़ मिलाते वक्त कोई कठिनाई तो नहीं होती?'

'बिलकुल नहीं' उन्होंने कहकहा लगाया 'उपन्यास का प्लाट तो दिल से उतरता ही नहीं, कलम उठाकर लिखने लगता हूं।'

मे तपने के बाद साहित्यकार ने जीवन के महान सत्य का पा लिया है। उस भाषण की गूज मैं अपने मस्तिष्क मे आज भी सुन सकता हू। उन्होंने साहित्यकार के सौंदयबोध की चर्चा करते हुए कहा था, 'सौंदय वही है जिसस सत्य की सृष्टि हो, साहित्यकार म सौंदय की अनुभूति जितनी अधिक होगी, वह उतना ही बडा साहित्यकार होगा। मानव प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन स सौंदयबोध पनपता है '

मुझे अमतसर जाना था और लाहौर म प्रेमचदजी के अधिक निकट आने का अवसर न मिल सका। आज सोचता हू कि मैं उनसे केवल दो बार मिला। दोना बार एक ही चित्र देखा। हा, अप्रैल, १९३६ मे अक्टूबर १९३१ क रग और भी गहरे हो गए थ।

सहृदय साहित्यकार

० पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी

प्रिय भाई गोयनकाजी, आपने प्रेमचंद के संस्मरण लिखकर भेजने के लिए लिखा है। मुझे नहीं मालूम था कि एक दिन प्रेमचंद के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए कहा जाएगा। अपनी स्मृति के बल पर मुझे जो कुछ याद रहा है, वही संक्षेप में लिखकर भेज रहा हूं।

हिंदी में पहली बार अंतर्राष्ट्रीय साहित्य का समकक्ष वरेण्य कथा-साहित्य स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचंदजी के उर्दू-कथा साहित्य का अनुवाद ही था। अनुवाद अविकल था क्योंकि मूल और अनुवाद दोनों ही प्रेमचंदजी ने स्वयं लिखकर प्रकाशित कराए थे। उस समय तक की कथा विधा से सर्वथा भिन्न और नवीन शब्द प्रतिमानों से अलंकृत चरित्र चित्रण उनकी शैली की मौलिकता थी। वह उन्हें किसी दूसरे से अनुवाद कराने में डरते थे कि वह कोई भूल चूक न कर बैठे। यही कारण है कि अनुवाद में भी उनकी उपलब्धियों का सांगोपांग अनुकरण यथास्थिति रहा।

जैसे जैसे उनके अन्य ग्रंथ प्रकाशित होते गए, उनका सम्पूर्ण लेखन कौशल भी हिन्दी को अर्पित होता गया। यही नहीं, उनके द्वारा सम्पादित साहित्यिक मासिक-पत्रिका 'हंस' ने तो हिंदी जगत् में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उसने एक परम्परा-भंजक का काम किया। उन्होंने बड़ी हौंस से 'हंस' का सम्पादन किया और उसे तत्कालीन साहित्य के मूर्धन्य शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिखाया।

मैं उन दिनों डी० ए० वी० हाई स्कूल में पढ़ता था। स्वर्गीय श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी मेरे क्लास टीचर थे और अंग्रेजी का क्लास लेते थे। एक दिन मारी कारली का उपन्यास पढ़ लेने के बाद जब मैं उसे लौटाने को उनके घर गया तो वह मुझे दरवाजे के बाहर निकलते दिखाई दिए। मालूम हुआ कि वह उनके घूमने जाने का समय था। मैं उनके पीछे-पीछे हो लिया।

काशी के विक्टोरिया पार्क (बेनिया पार्क) के समीप ही प्रेमचंदजी रहते थे। गौड़जी ने उन्हें आवाज दी तो जवाब देने के बजाय वह स्वयं बाहर आए

मे तपने के बाद साहित्यकार ने जीवन के महान सत्य का पा लिया है। उस भाषण की गूज मैं अपने मस्तिष्क मे आज भी सुन सकता हू। उन्होने साहित्यकार के सौन्यबोध की चर्चा करते हुए कहा था 'सौन्य वही है जिससे सत्य की सष्टि हो, साहित्यकार म सौदय की अनुभूति जितनी अधिक होगी, वह उतना ही बडा साहित्यकार होगा। मानव प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन स सौदयबोध पनपता है

मुझ अमतसर जाना था और लाहौर म प्रेमचदजी के अधिक निकट आने का अवसर न मिल सका। आज सोचता हू कि मैं उनम केवल दो बार मिला। दोनो बार एक ही चित्र दखा। हा अप्रैल, १६३६ म अक्टूबर, १६३१ के रग और भी गहरे हो गए थ।

सहृदय साहित्यकार

○ पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी

प्रिय भाई गायनवाजी, आपने प्रेमचंद के संस्मरण लिखकर भेजने के लिए लिखा है। मुझे नहीं मालूम था कि एक दिन प्रेमचंद के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए कहा जाएगा। अपनी स्मृति के बल पर मुझे जो कुछ याद रहा है, वही संक्षेप में लिखकर भेज रहा हूं।

हिन्दी में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का समकक्ष वरेण्य कथा-साहित्य स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्दजी के उर्दू-कथा साहित्य का अनुवाद ही था। अनुवाद सुन्दर था, क्योंकि मूल और अनुवाद दोनों ही प्रेमचन्दजी ने स्वयं लिखकर प्रकाशित कराए थे। उस समय तक की कथा विधा से सर्वथा भिन्न और नवीन रूप प्रतिभाना से प्रस्तुत चरित्र चित्र उनकी शैली की मौलिकता थे। वह उन्हें किसी दूसरे से अनुवाद कराने में डरते थे कि वह कोई भूल-चूक न कर बैठे। यही कारण है कि अनुवाद में भी उनकी उपलब्धियों का सांगोपांग अनुकरण यथास्थित था।

जैसे जैसे उनके ग्रन्थ प्रकाशित होते गए, उनका सम्पूर्ण लेखन-कौशल भी हिन्दी को अर्पित होता गया। यही नहीं, उनके द्वारा सम्पादित साहित्यिक मासिक-पत्रिका 'हंस' ने तो हिन्दी जगत में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उसने एक [illegible] का काम किया। उन्होंने काशी ही में से 'हंस' का सम्पादन किया और उसे तत्कालीन साहित्य के मूर्धन्य शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया।

मैं उन दिनों डी० ए० वी० हाई स्कूल में पढ़ रहा था। स्वर्गीय श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी मेरे क्लास टीचर थे और [illegible] का क्लास लेते थे। एक दिन उनकी कापी का [illegible] पढ़ लेने के बाद जब मैं उसे लौटाने को उनके घर गया तो वह मुझे दरवाजे के बाहर निकलते दिखाई दिए। मालूम हुआ कि वह उनके घूमने जाने का समय था। मैं उनके पीछे-पीछे हो लिया।

काशी के विश्वविद्यालय पार्क (बनिया पार्क) के समीप ही प्रेमचन्दजी रहते थे। मैंने ज्यों ही उन्हें आवाज दी तो जवाब देने के बजाय वह स्वयं बाहर आए

ग्रौर बोल 'चना।' वह चौड़ बाड की गाधी टोपी कुरता ग्रौर पाजामा पहने स्वय भी नित्य के कायक्रमानुसार टहलन जाने के लिए तैयार होकर ही घर स निकल थ। मैंन उन्ह प्रणाम किया तो उन्होंने गौड़जी की ग्रोर देखते हुए ग्रत्यन्त नम्रतापूवक मेरे ग्रभिवादन का दोना हाथ जोडकर जवाब दिया। वह ग्रौर गौड़जी दोना लगभग एक ही ग्रायु क थ ग्रौर ग्रापस म बहुत ज्यादा बेतकल्लुफ दिखाई दिए। दोना ही मुझसे बारह-तरह वष बड़े दिखाई दिए।

बेनिया बाग पहुचन पर एक टोली उनकी प्रतीक्षा करती दिखाई दी। यह टोली साहित्यिकों की थी। महाकवि जयशकर प्रसाद को डी० ए० वी० कालेज की सान्ध्य पाठशाला साहित्य विद्यालय म कविता-पाठ करत सुन चुका था ग्रौर दो बार स्वर्गीय कविवर शिवदास गुप्त 'कुसुम' के साथ उनके स्थान पर जाकर उनक मुह स एक बार 'ले चल मुझ भुलावा देकर मर नाविक धीरे धीरे' ग्रौर दूसरी बार कोई ग्रन्य गीत सुन ग्राया था। प्रसादजी क ग्रतिरिक्त वहा मेरे एक बाल्य सहचर ग्रौर सहपाठी छोटी कहानियो के सिद्धहस्त शिल्पी स्वर्गीय विनोद शकर व्यास भी थे जो प्रसादजी के निकटतम ग्रौर (मेरी ग्रपेक्षा) प्रेमचदजी के निकटतर लोगो मे थ। तीसरे सज्जन थे ग्रपन समय क प्रसिद्ध कहानीकार स्वर्गीय विश्वम्भरनाथ जिज्जा ग्रौर चौथे सज्जन थे श्री महावीर प्रसाद गहमरी जो प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास लेखक श्री गोपालराम गहमरी के भाई थ। मालूम हुग्रा कि य लोग नित्य सूर्योदय से पहले उप पान करन के लिए बेनिया पाक पधारा करत थ।

जसे प्रत्यक नये लेखक म छपास की भावना जागती है बस मैं भी उसका ग्रपवाद न था। दो चार बार प्रेमचदजी स फिर भेंट हुई। वह मितभाषी ग्रौर 'कबिरा परखे साधु को' वाली प्रवृत्ति के गम्भीर चितक म थे। परतु इतन थोडे परिचय म ही वह विनोद ग्रौर प्रसादजी की देखा देखी 'का हो दुर्गा' पर उतर ग्राए थे। उन्ह इतनी जल्दी इतना ग्रनुकूल देखकर मैं एक दिन हस कार्यालय गया। सहायक सम्पादक श्री प्रवासीलाल वर्माजी न दो बीडा पान से ग्रातिथ्य सत्कार किया। उन्ह मैं प्रेमचदजी की ग्रपेक्षा कुछ पहले से जानता था। प्रेमचदजी उस समय तक दफ्तर म नही ग्राए थे ग्रौर कायालय मे उनका इतजार था।

थोडी ही दर बाद प्रेमचदजी ग्रा गए। मैंने उठकर उनका ग्रभिवादन किया तो उन्होंने ग्रत्यन्त ग्रात्मीयता के साथ मेरे कधो पर हाथ टेककर मुझे बलपूवक कुर्सी पर बिठा दिया ग्रौर स्वय मेज पर ही टागें लटकाकर बठ गए। बोले, कब स बठे हो ?

मैंने कहा 'ग्रभी ग्रापसे थोडी ही देर पहले ग्राया था।'' वास्तव में मैंन झूठ बोला था। मुझे ग्रौर मालवीयजी को पान कचरते हुए देखकर मेरा झूठ

बोलना उनकी पैनी निगाहों से न बच सका। वे फिर भी अनजान बनते हुए विनोदी मुद्रा में बोले 'दस भाई एक रोपली मारी।

उस दिन के बाद उनसे अनेक बार मिला, परन्तु मैं एक आज्ञाकारी अनुज की शील मर्यादा तक ही सीमित रहा। वैसे याद है कि वह बेहद हाज़िरजवाब थे और अधिकतर कलात्मक उक्तियों के द्वारा अंग्रेजी माध्यम से ही मीठी चुटकियाँ लेने के आदी थे। जो जितने आदर के योग्य होता है उसे उससे अधिक आदर देते थे। एक बार जब उन्होंने मुझसे भी मेरी पीठ सहलाते हुए 'हंस' के लिए कोई कविता मांगी तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे उन्होंने अग्रज के स्थान पर मेरे किसी सहृदय मित्र को मेरे सामने बिठा दिया हो। इसी प्रकार उन्होंने एक बार 'हंस' में छापने के लिए विनोदशंकर व्यास की कहानी पर टिप्पणी करते हुए विनोद को लिखा था 'सिम्पली एक्यूसिव ... ब्राना चेखोफ।"

लगभग पचपन साल का अन्तराल! मैं सोचने पर भी बहुत-सी बातें भिन्न भिन्नवार याद करने में असफल हूँ। मैं जीवन में अनेक स्थानों में रह चुका हूँ। हर बार के स्थानान्तरण ने मेरी अमूल्य पुस्तकों और डाक पर डाका डाला है। मेरे पास मेरे माता पिता के असंख्य महत्त्वपूर्ण पत्रों में से इस समय एक भी उपलब्ध नहीं है। हाँ यदि यह मालूम होता कि किसी दिन प्रेमचन्दजी के बारे में मुझसे कुछ पूछा जाएगा तो 'हंस' कार्यालय में भेजी गई उनकी चिटें और कलकत्ता से भेजे गए दो पत्र अवश्य सहेजकर रख लेता। कोई लेखक अपने जीवनकाल में यह नहीं सोच पाता कि मरने के बाद उसे कितना याद किया जाएगा। शायद प्रेमचन्दजी भी नहीं जानते थे क्योंकि छोटे और बड़े लेखकों का संघर्ष उस समय भी आज से थोड़ा ही कम था। मेरे दो पत्र प्रसादजी के पत्र संग्रह में निकले हैं। सम्भव है, मेरा कोई पत्र (चिटें तो क्या मिलेंगी) उनके पत्रों के संग्रह में मिल जाए।

मुन्शी प्रेमचद

⊙ परिपूर्णानन्द वर्मा

अमर साहित्यिक कौतनिया टालसटाय क बडे भाइ निकोलस भी वडे साधु पुरुष अच्छे विचारक तथा लखक थ पर वे प्रसिद्ध साहित्यिक न बन सके।

रूसी साहित्य क चिरस्मरणीय रत्न इवान तुगनव न निकोलस के सम्बन्ध म लिखा था

यदि निकोलस म कुछ और दोष तथा कमजोरिया आ गई होती तो वे महान लखक बन जात।

शायद यही बात श्री धनपतराय अर्थात मुन्शी प्रेमचद के भाई महताबराय के लिए भी कुछ अश तक लागू है। व अच्छे विचारक मिलनसार, लेखक तथा पत्रकार थे। पर दीन दुनिया क एब स बाहर थ। पत्नी और सन्तान की सवा करना खूब परिश्रम करके कमाना तथा अपन हसमुख स्वभाव स सबको प्रसन्न रखना यही करत करत व अपने बडे भाई के पहले ही ससार से चल गए। अपने भाइ की प्रशसा करत वे कभी न थकते। मुझस वे कहा करते थे

"जिस महनत से भैया रोजी कमाते है पर जो ऐशखर्ची उनके घर म बरती जाती है उस देखकर मुझे भैया पर दया आती है।"

मैं नही कह सकता कि यह कथन कितना सही था। इसलिए कि प्रेमचद-जी से मिलने पर उनके दिल की या घर की बात जान लेना एक प्रकार स असभव था। महताबराय मेरे बडे भाई डा० सम्पूर्णानन्दजी के सगे साढू थ। दोनो की पत्नी सगी बहनें था। अतएव प्रमचदजी हमार नजदीकी रिश्तेदार थ और उन्होंने सदा मुझ छोटा भाई माना। उनके जीवनकाल म उनके लडके धनू और बनू मुझे चाचा कहत थ। जिस सुख तथा आनन्द की प्रमचदजी न कल्पना भी नही की थी, उसका व उपयोग अपने पिता की पवित्र आत्मा के कारण कर रहे हैं, यह भगवान की कृपा है। अतएव अब मैं यदि चचा नही भी रह गया हू तो मुझे कोई आपत्ति न होगी।

मैंने पिता की पुस्तकों से सम्पन्न होते दो परिवार देखे हैं श्री प्रेमचदजी का

तथा श्री वृन्दावनलाल वर्मा का। अतएव तुर्गनेव के समान चलिए हम भी ढूँढें कि प्रेमचंदजी में क्या दोष थे जिसने उन्हें अमर साहित्यकार बना दिया ? गुण ढूँढने का अब फ़ैशन नहीं रह गया है। आज की संतान अपने पिता का भी ऐब खोजती है। अमरीकन बचपन में ही अपने पिता को 'दकियानूसी' कहना शुरू कर देते हैं। प्रगति का ज़माना है। अतएव जो हमसे पहले पैदा हुआ, वह दकियानूसी तो होगा ही।

और प्रेमचंदजी में बड़े-बड़े दोष थे। मेरी दृष्टि में एक तो वे एक प्रकार से नास्तिक थे। जब वे बनारस के रामकटोरा मुहल्ले के अपने किराये के मकान में बीमार पड़े हुए थे, जलोदर ने भयंकर रूप धारण कर लिया था, मैं एक रात लगभग १० बजे उनके पास पहुँचा। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें मुँदी पड़ी थीं। मेरी आहट पाकर आँखें खोल दीं और बोल उठे, 'अरे इतनी रात को चले कहाँ से आ रहे हो ?'

'रामलीला देखकर आ रहा हूँ भाई साहब !'

'अरे यार, एक बात तो बताओ अगर तुलसी न पैदा होते तो यह राम कहाँ से आ जाता ?' और यह कहकर ठहाका मारकर 'हँ हँ' करने लगे। जब वे खूब मजे से हँसते थे तो दोनों हथेलियों को मिलाकर एक धमाका भी कर देते थे।

मैं गमानमी आदमी हूँ, मुझसे न रहा गया। मैंने कहा, 'भाई साहब, आप बीमार हैं। जरा भगवान को याद कीजिए। कष्ट कम होगा।'

"वाह, कष्ट तो डाक्टर कम करेगा। क्या तुम भी जवानी में अल्ला मियाँ को पुकारने लगे ?"

और इस वार्तालाप के बीच पाँच दिन बाद उनका शरीर छूट गया।

उनकी मेरी अधिक आत्मीयता उस समय शुरू हुई जब वे वाराणसी के बेनिया पार्क में एक किराये के मकान में रहते थे। आजकल उस मकान में स्वर्गीय डॉ० भोलानाथ का क्लिनिक है। सन १९३१-३२ की बात है। मेरी पत्नी भाभी शिवरानी से मिलने जातीं और वे हमारे यहाँ आतीं और मैं घंटों प्रेमचंदजी के पास बैठा रहता। भाभी शिवरानी ने वहाँ एक बार मेरी पत्नी को 'महिलाओं के अधिकार' पर बड़ा उपदेश दे डाला। फलतः मेरे पुराने ढंग के परिवार में एक नई विचारधारा उत्पन्न होने लगी।

दोपहर के समय भाभी, मैं और प्रेमचन्दजी बैठे बातें कर रहे थे। मैंने भाभी से कहा, 'जरा मेरे ऊपर दया कीजिए। यह सब महिला के अधिकार की सीख देना बन्द कीजिए।'

वे तुरन्त स्नेह से बोल उठीं, 'तुम तो चाहते होगे कि ऐसी बीवी मिले कि तुम घर बैठे रहो। वह इतनी पढ़ी-लिखी हो कि तुम्हें कमाकर खिलावे। यही

न।'

तुरंत प्रेमचदजी बोल उठे, 'अरे यह तो बिचारा मुझसे छोटा है। ऐसी कोई मिल तो मुझे दिला दो।"

भाभी शिवरानी खीझकर उठ खड़ी हुई। "तुम दोनों एक से हो,' कहते हुए वे भीतर चली गई।

रास्ते में मुझे एक शराबी मिला था और उसकी दुर्गति देखकर मुझे बड़ी घृणा हो रही थी शराब से। तीसरे प्रहर का समय था। मैं प्रेमचदजी से कहने लगा 'भाई साहब, शराब बड़ी बुरी चीज है।

हां जरूर।' वे पान चबाते आंखें बंद किए (बैठे हुए थे) बोले।

मैं समझता हूं कि इसका पीना कानूनन बंद होना चाहिए। ऐसी बुरी चीज है यह। आपकी क्या राय है?' मैंने पूछा।

आंख खोलते हुए पान चबाते हुए वे बोल उठे 'हां यार, बड़ी बुरी चीज है, पर कोई मुझे मुफ्त पिलाता तो मैं उसे दुआ देता।'

और ठहाका मारकर हसने लगे। भाभी शिवरानी ने मुस्कराकर मुझसे कहा 'और चाहिए इनका फतवा।'

प्रेमचदजी के बड़े अनन्य मित्र तथा साथी थे मुशी दयानारायण निगम कानपुर के। वे बड़े महान लोगों में से थे। उर्दू में तत्कालीन श्रेष्ठ मासिक जमाना पत्रिका निकालते थे। प्रेमचदजी नौकरी के सिलसिले में कानपुर रह चुके थे। यहां उनकी और निगम साहब की दोस्ती हुई। 'जमाना से ही प्रेमचद की कहानियों का सिलसिला शुरू हुआ और मुशी दयानारायणजी ने मुझे बतलाया था सन १९०८ में, 'धनपतराय से मैंने कहा कि जरूर लिखो। तुम्हारी कलम में जादू है। तुम जमाने को इन्सान को, अपने ख्याल को खूब पहचानते हो। सरकारी नौकरी में नाम न दे सको। मत दो।

मैंने पूछा, 'प्रेमचद नाम कैसे चुना?'

भाई इसके अनेक वजूहात हैं। वैसे नाम एकदम सही है। हमने सलाह मशविरा करके यह नाम रखा। उनके बदन का जर्रा-जर्रा न सिर्फ अपने दोस्तों के लिए बल्कि हर इन्सान के लिए मुहब्बत से लबरेज था। और धनपतराय खुद कबूल करते, मगर तुम उनसे पूछते कि मैंने जब उनकी कहानियों के जादू को चमकने देखा मैंने सलाह दी कि हिन्दी में लिखो लेकिन पहले जमाना को देना। पहले तो झिझके हिचके लेकिन मुहावरेदार उर्दू लिखने वाला हिन्दी पर जल्दी काबिज हो सकता है।

मैं पूछता गया। बोला मैंने तो बहुत बैठकें उनके साथ कीं। सब जानकर सुनो, वे बड़े खुश आदमी मालूम होते थे।'

'सूबे की खूब कही। जरा भी छुट्टी मिली और धनपतराय दौड़कर मेरे

लगाने वालों म स थे। खाने पीने वाले मस्त आदमी दिल के साफ होत हैं। जितना खूबसूरत गोरा चिकना उनका चेहरा था उतना ही खूबसूरत उनका दिल भी था। मुशी दयानारायण ने उत्तर दिया।

मैंने उनके जितना सच्चा, ईमानदार आदमी कम दखा है। सन् १९३३ मे उन्हें पजाब सरकार से एक किताब 'आउट लाइन आफ हिस्टी' का अनुवाद करने का आडर मिला। चार रुपया पेज पर मजदूरी तय हुई। उस समय उनके लिए यह काफ़ी बड़ा आडर था पर एक उपन्यास मे हाथ लगा चुके थे। उधर मैं भी फटहाल था। मुझे काम देने की नीयत से अनुवाद का काम मेरे जिम्मे किया। तय हुआ कि मैं लिखू व शुद्ध कर दें। दो रुपया प्रति पेज बाट लें।

मैं काम म जुट गया। पर २४ २५ वर्ष की उम्र म प्रेमचद की भाषा कहा स लाता। दो अध्याय के बाद उन्होंने मुझसे इतना ही कहा, 'जरा मेरे पास किताब छोड दो। मैं देख लू।

मैं समझ गया कि काम हाथ से निकल गया। कुछ दिनों म मैं भूल गया। दो साल बीत गए। मैं एक बीमा कम्पनी का जनरल मनेजर हो गय। एक दिन दफ्तर मे बैठा था कि देखा प्रेमचदजी चिक उठाकर भीतर आ गए।

मैं चीख पड़ा अरे भाई साहब आप!

चादी के रुपया स भरा मैला रूमाल मेरे सामने रखते हुए बोले अरे, रुपया—रुपया।'

कैसा रुपया?'

अरे मियां लो। कैसा रुपया! जो दो अध्याय तुमने अनुवाद किए थे, उसका हिस्सा।

अरे भाई साहब आपने तो उसे फाडकर नया लिखा।

'तो क्या हुआ? मेहनत तो तुमने की थी।'

मेरे सामने चादी के १५० रुपये उस जमाने के १५० रुपये बिखर पड़े। अपना मैला रूमाल उन्होंने वापस ले लिया। मैं मुह ताकता रह गया। बडे लेखकों प्रकाशकों तथा सम्पादकों स जीवन भर धोखा खाने वाले के लिए यह घटना कभी नहीं भुलाई जा सकती।

मैंने उन्हें कभी भी दोनों तरफ से सफेद कागज पर या फाउण्टेन पेन से लिखते नहीं देखा। स्कूली लडकों वाली 'जी' निब दवात मे डुबती पूरे कलम दान पर स्याही छिड़कती रद्दी कागज वाले के यहा स खरीद हुए एक तरफ लिखे हुए कागज पर प्रेम से मचला करती थी। मैंने एक बार कहा सादा कागज खरीद लीजिए। प० बनारसीदासजी चतुर्वेदी हर पत्र को, चाहे पोस्ट-कार्ड पर ही लिखें लिखना एक कला समझते हैं। बढ़िया कागज या कलम

हुए बिना वे लिख नहीं सकते।'

'पर वे कहानी नहीं लिखते। प्रवासी भारतीयों पर लिखते लिखते वे पश्चिमाय भारतीय हो गए हैं।

'फाउण्डेशन—फिर भी।

'रहने दो मियां यहां तो आदत पड गई है। अमीरी से लिखूंगा तो अमीराना किताब हो जाएगी।'

मैं उन्हें एक चीज कभी न समझा सका था उनकी एक आदत कभी न रोक सका। पान खाते खाते उनके दांतों में दरारें पड गई थीं। उनमें पान घुस जाता था। लिखते लिखते स्याही भरी निब से दांत कुरेदने लगते। मुंह काला, जीभ काली मैं टोक देता अरे यह क्या करते हैं आप! भला स्याही भरी निब से

किस कमबख्त को याद रहती है। कहते कहते पिन उठा लेते। मैं रोक देता।

'इससे जहर फैल जाता है।

हाथी घोड़ा तो नहीं फैलता। जहर ही न फैलता है। वे बोले।

मैंने लकड़ी के तिनके ला दिए। बोले तिनका चुनो काटो, बनाओ रखो—धत।

बालक के समान सरलता। निष्कपट स्वभाव बड़े-बड़े आस्तिकों तथा महान पुरुषों से अधिक पवित्र आत्मा जरा देर में कुम्हलाया जाने वाला स्वभाव।

विनोदशंकर व्यास अपने साप्ताहिक जागरण को दैनिक जागरण' बनाने लखनऊ ले गए। हमने सावधान किया। भाभी ने मना किया वरना सरस्वती प्रेस से भी हाथ धो बैठते। वे साधु थे तपस्वी थे निश्छल केवल थे। उनकी लेखनी नहीं थी—सरस्वती थी। जागरण' पत्र साप्ताहिक रूप में वाराणसी से निकला था।

जब चिता की लपट उन्हें समेटने लगी सब लोग इधर उधर की बातें भी कर रहे थे। प्रेमचंदजी के सम्बन्ध में कलप रहे थे। पर एक व्यक्ति मौन, मूक एकटक चिता की ओर देखता रहा। प्रेमचंदजी का शव उठाने के समय ऐसी घटना हो गई थी उसके साथ कि उसका मन रो रहा था और शायद वह देख रहा था—छः महीने के बाद अपनी चिता भी। ये महापुरुष थे श्री जयशंकर प्रसाद।

घटना कुछ इस प्रकार थी। प्रेमचंद का शव पड़ा हुआ था। उस निर्जीव शरीर को गोद में चिपटाए भाभी शिवरानी आकाश का भी हृदय दहला देने वाला करुण क्रंदन कर रही थीं। श्मशान जाने के लिए नगर के सैकड़ों सम्भ्रांत

साहित्यिक उतावले हो रहे थे। कुछ अपने दुःख का वेग नहीं संभाल पा रहे थे। कुछ को और भी बहुत-से काम थे। उन्हें जल्दी थी इस काम से निपट जाने की। और कुछ ने मुझे बतलाया था कि वे रास्ते से ही अलग हो जाएंगे, श्मशान तक न जा सकेंगे।

और भाभी शिवरानी शव को किसीको छूने नहीं दे रही थीं। सबने 'प्रसादजी' से कहा, 'आप ही समझाएं।' वे आगे बढ़े। भाभी से बोले, 'अब इन्हें जाने दीजिए।'

वे क्रोधपूर्वक चीख उठीं, 'आप कवि हो सकते हैं पर स्त्री का हृदय नहीं जान सकते। मैंने इनके लिए अपना वैधव्य खंडित किया था। इनसे इसलिए नहीं शादी की थी कि मुझे दुबारा विधवा बनाकर चले जाएं। आप हट जाइए।'

प्रसादजी के कोमल हृदय को वेदना तथा नारी की पीड़ा ने जैसे दबोच लिया। उनका गला भर आया। नेत्रों में आंसू छलछला उठे। मैं ही सामने खड़ा दिखाई पड़ा। मुझसे भर्राई आवाज में बोले, 'परिपूर्णा तुम्हीं संभालो।'

भाभी चिल्लाती चीखती रहीं और मैंने 'अब यह प्रेमचंदजी नहीं, मिट्टी हैं'—कहकर मुर्दा उनकी गोद से छीन लिया।

उस घटना के बाद मैंने प्रसादजी को कभी हंसते नहीं देखा। उनके शरीर में क्षय घुस चुका था। शायद प्रेमचंदजी की मृत्यु ने उनके मस्तिष्क को भी रोगी बना दिया। उनके मन की तथा हृदय की पीड़ा 'मनु इड़ा' के अतुलनीय चित्रण में 'कामायनी' के काव्य के अंतिम पृष्ठों में उतर पड़ी।

प्रेमचन्दजी का जन्म ३१ जुलाई सन् १८८० को हुआ और मृत्यु ५६ वर्ष की अवस्था में ८ अक्टूबर, १९३६ को हुई थी। जब उनका शव कंधों पर उठाकर वाराणसी के साहित्यकार ले चले, ऐसा लगा कि साहित्य के आकाश से एक जगमगाता सितारा टूटकर गिर रहा है। उनके दोनों लड़के धुन्नो तथा बन्नो तथा भाभी शिवरानीजी की वेदना अधिक पीड़ामय थी या साहित्यिक मण्डली की वेदना, यह कहना कठिन है। पर ऐसा कहना उचित होगा कि उस मण्डली में सबसे दुखी जयशंकर प्रसाद थे और कौन जानता था कि उनकी जीवन-यात्रा में कुछ ही महीने बाकी रह गए हैं।

मुन्शी प्रेमचंदजी एक धुरंधर उपन्यासकार को अपने उत्तराधिकारी के रूप में छोड़ गए थे। वे थे श्री वृन्दावनलाल वर्मा।

प्रेमचंदजी से मैंने एक बार पूछा था, 'आपके बाद आपके निकटतम उपन्यास-लेखक कौन होगा?'

वे कुछ क्षण चुप रहे। यह बात सन् १९३५ की है। उन्हें विश्वास था कि

प्रेमचद की यथार्थपरकता मन को छू गई

○ डा० प्रभाकर माचवे

आपका प्रेमचद से परिचय किस प्रकार हुआ ?

डा० माचवे १९३४ म हिन्दी साहित्य सम्मलन के अवसर पर जनादन राय नागर न मिलवाया। मैं तब विद्यार्थी था—नया-नया हिंदी लिखने लगा था। मैंने तब रूसी लेखक गोलोखोफ की एक छोटी व्यग्य कथा मराठी म पढी थी। मैंन प्रेमचद स पूछा आपको उनकी कहानिया कसी लगती हैं ?" प्रेमचन्द बोले मुझे तुगनफ अधिक पसन्द है। वह 'वर्जिन स्वाइल' के करीब है। शोलोखोफ न तुगनफ के वर्जिन स्वाइल' पर टीप लगाकर 'वर्जिन स्वाइल अप्टनड उपन्यास लिखा था।

प्रमचद से आपकी कुल कितनी बार मुलाकातें हुइ। उन मुलाकातों के बारे मे कुछ बतलाए।

डा० माचवे जहा तक याद आता है चार बार। प्रथम भेंट दिल्ली मे हुई। फिर बम्बई काग्रेस के अवसर पर माखनलाल चतुर्वेदी जहा ठहरे थ, वहा। फिर वे काग्रेस स बाहर चल जा रहे थे तब वीरेन्द्रकुमार जन क साथ। १९३५ म हिन्दुस्तानी एकेडमी के सेशन मे इलाहाबाद म माखनलाल चतुर्वेदी के ही साथ। यानी जमकर कभी बठकर लम्बी मुलाकात नही हुई। सभा-सोसाइटी म भी म दस पन्द्रह मिनटो की प्रत्यक मुलाकात रही होगी। पत्र भी सात आठ ही मिल। हस' मे लिखना रहा उनकी प्रेरणा स। एक पत्र मैंन पहल लिखा था या याद आता है। अपनी कहानी छपवाना चाहता था। १९३४ ३५ म 'अनजाने दाग कहानी हस मे छपी। प्रेमचन्द की निगाह पनी थी अच्छी नइ रचनाओ पर। युवक लेखको को प्रोत्साहन देते थे।

प्रेमचद के कुल कितने पत्र आपके पास सुरक्षित हैं ?

डा० माचवे शायद पाच छ पत्र बचे हैं।

कृपया उपलब्ध पत्रो मे से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पत्र को पढकर सुनाए।

डा० माचवे प्रेमचद का १५ ६ १९३५ का लिखा पत्र महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने मुझे इस पत्र म लिखा है

प्रिय प्रभाकर

मैं तुम्हे कई दिनो से पत्र लिखने का इरादा कर रहा था पर तुम्हारे पहले पत्र म तुम्हारा पता न था। कल तुम्हारे दोनो लेख मिल गए। मैंने श्री खाडेलकरजी की कहानी पढी। वास्तव म बहुत सुन्दर चीज है। हा अत मे या तो अनुवाद मे कुछ रह गया है या और कोई बात है। जमना म ताज का प्रतिबिम्ब कैसे कुछ और हो गया यह मैं न समझ सका। मगर इस कहानी को छापने के लिए मुझे श्री खाडेलकरजी से अनुमति लेनी पडेगी। मुझे उनका एड्रेस मालूम नही। तुम लिख दो तो मैं उन्हे पत्र लिखू। यदि वह अनुमति न देंगे तो कैसे छपेगी? 'मराठी के तीन उपन्यासकार' मार्मिक आलोचना है। वह मैं अक्टूबर के अक मे दे रहा था। तुम्हें धन्यवाद दू तो गोया यह मेरा काम होगा, तुम्हारा काम नही। इसलिए धन्यवाद न दूगा। पर तुम्हारा लगन सराहनीय है। दूसरे-तीसरे महीने हस के लिए कुछ लिख दिया करो। मैं तो समझता हू, अगर अनुवाद न करके तुम मराठी के अच्छे उपन्यासो की, विस्तार से आलोचना कर दिया करो तो वह एक चीज हो जाएगी और सभव है, पुस्तक बन जाए। मि० फडके, देशपाण्डे और खाडेलकर तीनो मास्टरो की सर्वोत्तम कृतियो की आलोचना तीन महीने म कर डालो। इसमे तुम्हे परिश्रम कम पडेगा और तुम्हारी पढाई मे बाधा न पडेगी।

तुम्हारी कहानी दूध का पानी मुझे बहुत अच्छी लगी लेकिन तुम जानते हो मैं खाली भावुकता नही चाहता, कहानी म कुछ मतलब की बात भी चाहता हू।

वीरेन्द्रकुमार ने अभी एक और सस्मरण भेजा है। किसी गुजराती युवती की प्रेमकथा है। मेरा विश्वास आत्मसमर्पण म नही है। विवाह एक कान्ट्रावट सही लेकिन जब कान्ट्रावट पूरा हो गया तो बिना विशेष कारण के उसकी उपेक्षा भी मैं बेइमानी समझता हू—उसका हृदय से पालन होना चाहिए। मगर उनका आग्रह है कि वह कहानी अवश्य छपे। इसलिए छापूगा।

शुभाकाक्षी
प्रेमचद

'हंस' में बगला, कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि लेख छप रहे हैं। हमारा साहित्य क्षेत्र कितना विस्तृत हुआ जा रहा है।

कृपया बतलाए, क्या उन्होंने 'हंस' में लिखने की प्रेरणा दी? आपकी कितनी रचनाएं 'हंस' में प्रकाशित हुई?

डा० माचवे मैंने 'नीर क्षीर' कालम में बहुत कुछ लिखा। गुजराती मराठी आदि से अनुवादित करके अनेक रचनाएं भेजी। खाडेलकर चारखडे की मराठी कहानियों के अनुवाद किए। अपनी एक दो कहानियां तीन चार लेख भेजे। छपे भी। हां प्रेमचंद लिखने की बराबर प्रेरणा देते रहे।

प्रेमचंद आपके लिए किस प्रकार प्रेरणास्रोत रहे? आप अपने ऊपर उनके प्रभाव को किस रूप में स्वीकार करते हैं?

डा० माचवे प्रेरणास्रोत तो रहे ही। सन १९३४ में कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई। मैं बम्बई की इस कांग्रेस में एक विद्यार्थी कार्यकर्ता के नाते उपस्थित हुआ था। इसमें आचार्य नरेन्द्रदेव, कमलादेवी चट्टोपाध्याय सम्पूर्णानन्द, रामवृक्ष बेनीपुरी दन्तवाड आदि उपस्थित थे। प्रेमचंद गांधीवाद और समाजवाद के बीच संक्रमणशील हो रहे थे। ३६ में प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति बने। मेरी भी वही मन स्थिति थी। मैंने गोर्की के अवसान पर आगरे के साप्ताहिक 'गणेश' में लेख लिखा। माखनलालजी के 'कर्मवीर' में गोर्की और प्रेमचंद लेख उनकी मृत्यु पर लिखा।

किसी भी साहित्यकार का प्रभाव Creative mind पर सीधे नहीं पड़ता। तिर्यक पड़ता है। टालस्टाय बर्नार्ड शा और गाल्सवर्दी मेरे भी प्रिय लेखक थे। प्रेमचंद ने उनके अनुवाद किए। इनकी कहानियां मुझे भी पसन्द थी। इस प्रकार प्रेमचंद से कई बातों में मिलान मिला। उनकी यथार्थपरकता सच्चाई ईमानदारी आदि मन को छू गए। उन्होंने ही मुझे लिखा, जैनेन्द्रकुमार पर एक रेखाचित्र लिखो। मैंने लिखा। वह प्रेमचंद की मृत्यु के बाद 'हंस' में छपा।

स्वर्गीय प्रेमचंदजी

● पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

"मेरी आकांक्षाएं कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खानभर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं। हां यह जरूर चाहता हूं कि दो चार ऊंची कोटि की पुस्तकें लिखूं, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूं कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी धनी खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूं। हां रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।" (प्रेमचन्दजी के ३ ६ ३० के पत्र से)

'जो व्यक्ति धन-सम्पन्न में विभोर और मगन हो उसके महान पुरुष होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूं वैसे ही मुझपर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को जो अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रकम जमा देखकर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है। (प्रेमचन्दजी के १ १२ २५ के पत्र का एक अंश)

प्रेमचन्दजी की याद आते ही उनके उपर्युक्त दोनों पत्रों का जो साढ़े पांच वर्ष के अन्तर पर लिखे गए थे स्मरण हो आया। ये दोनों पत्र प्रेमचन्दजी के

जीवन के उद्देश्यों और उनकी आशा-आकांक्षाओं को प्रकट करते हैं। यदि प्रेमचन्दजी ने सरकारी नौकरी न छोड़ी होती तो वे डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स अथवा असिस्टेण्ट होकर रिटायर होते, पर उन्होंने त्याग और तप का जीवन अंगीकार किया था और अपनी आकांक्षाओं को रोटी-दाल तोला भर घी और मामूली कपड़े पर ही परिमित कर लिया था। गरीबी के इस व्रत को ग्रहण करने के कारण ही वे हमारे साहित्य के लिए एक अमर ग्रन्थ प्रदान कर गए जिनकी वजह से हम आज अन्य भाषा भाषियों के सम्मुख अपना मस्तक ऊंचा कर सकते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक पर प्रेमचन्द की कृपा थी और वह अपने जीवन के पवित्रतम संस्मरणों में प्रेमचंदजी की स्मृति की गणना करता है। सन् १६२४ की बात है। प्रेमचंदजी के प्रथम पहले दर्शन करने का सौभाग्य मुझे लखनऊ में प्राप्त हुआ था। उन दिनों वे शायद 'रंगभूमि' नामक उपन्यास लिख रहे थे। उनके घर पर ही उपस्थित हुआ था और उनके साथ सड़कों पर कुछ दूर प्रातःकाल के समय टहला भी था। उस समय उन्होंने अपने बाल्यावस्था के अनुभव जबकि वे किसी मौलवी साहब से पढ़ते थे सुनाए थे। प्रेमचंदजी के एक गुण ने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया था वह था उनमें साम्प्रदायिकता का सर्वथा अभाव। हिन्दू मुस्लिम एकता के वे कट्टर हामी थे और दोनों के सांस्कृतिक मेल के लिए उन्होंने जीवन भर परिश्रम भी किया था। उन थोड़े से समय में, जो उनके साथ व्यतीत हुआ प्रायः इसी विषय पर बातचीत होती रही।

इसके बाद पिछले बारह वर्ष में प्रेमचंदजी से मिलने के दो-तीन अवसर और मिले और पत्र-व्यवहार तो निरंतर होता रहा। बातचीत की तरह उनका पत्र व्यवहार भी दिल खोलकर होता था। दिसम्बर १६-२ में उनके साथ काशी में दो दिन तक रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इन दो दिनों में एक दिन तो प्रातःकाल के ११ बजे से रात के १० बजे तक और दूसरे दिन सवेरे से शाम तक वे अपना सब काम छोड़कर मुझसे बातचीत करते रहे। इन दो दिनों में वे सैकड़ों बार ही हंसे होंगे और सैकड़ों बार ही उन्होंने मुझे हंसाया होगा। उनकी जिंदादिली का क्या कहना।

एक दिन बात करते करते काफी देर हो गई। घड़ी देखी तो पता लगा कि पौने दो बजे हैं। रोटी का वक्त निकल चुका था। प्रेमचंदजी ने कहा 'खैरियत यह है कि घर में ऊपर घड़ी नहीं है नहीं तो अच्छी-खासी डांट सुननी पड़ती। इसपर टिप्पणी करते हुए मैंने 'विशाल भारत' के लेख 'श्री प्रेमचन्दजी के साथ दो दिन' में लिखा था 'घर में एक घड़ी रखना और सो भी अपने पास यह बात सिद्ध करती है कि पुरुष यदि चाहे तो स्त्री से कहीं अधिक चालाक बन सकता है और प्रेमचंदजी में इस प्रकार का चातुर्य बीज रूप में तो विद्यमान है ही।

फिर कलकत्ते लौटने पर एक चिट्ठी में मैंने प्रेमचंदजी को मजाक में लिखा था कि आप श्रीमती शिवरानीदेवीजी को एक रिस्ट वाच क्यों नहीं खरीद देते ? इसका उत्तर देते हुए प्रेमचंदजी ने लिखा, "एज टू हर रिस्टवाच, वन्स सम इण्टरप्राइज़िंग जर्नलिस्ट बीगन्स टू पे हर फ़ार हर कण्ट्रीब्यूशन्स शी विल मैनेज फ़ार हरसेल्फ़ ऑर मे बी सम वन मे प्रेजेण्ट हर विद वन"—रही उनकी रिस्ट-वाच की बात, सो जब कभी कोई उद्योगी पत्रकार उनकी रचनाओं के लिए पारिश्रमिक देना प्रारम्भ करेगा तो वे खुद अपने लिए रिस्टवाच खरीद लेंगी, या शायद कोई उन्हें एक रिस्टवाच भेंट ही कर दे।"

प्रेमचंदजी को कलकत्ते बुलाने और शान्ति निकेतन ले जाने के लिए कई बार मैंने प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सका। जब कविवर नागूची जापान से कलकत्ते पधारे थे, तो मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वे भी आवें। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा था, 'आपका कार्ड मिला। उसके लिए धन्यवाद। क्या ही अच्छा होता यदि मैं कविवर नागूची के भाषण सुन पाता, पर लाचारी है। घर बार को यहाँ कैसे अकेला छोड़ दूँ यही प्रश्न है। लड़के इलाहाबाद में हैं, और यदि मैं बाहर चला जाऊँ तो मेरी स्त्री को सूना-सूना सा लगेगा। और अगर मैं उन्हें साथ लाऊँ तो खर्च के लिए मेरे पास काफी पैसे चाहिए। इसलिए आर्थिक संकट का सामना करने के बजाय यही उत्तमतर है कि मैं घर पर ही पड़ा रहूँ।'

शान्ति निकेतन भी वे इसी कारण नहीं जा सके थे।

कविवर श्री रवीन्द्रनाथ से प्रेमचंदजी का जिक्र अनेक बार आया था, और उन्होंने कई बार कहा था कि प्रेमचन्दजी की चुनी हुई कहानियों का अनुवाद बंगला में होना चाहिए। बंगला के हास्यरस के सुप्रसिद्ध लेखक श्री परशुराम (श्री राजशेखर बोस) ने भी प्रेमचन्दजी की चंद कहानियाँ पढ़ी थीं और 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी उन्हें खासतौर से पसन्द आई थी।

प्रेमचन्दजी जितने हिन्दी वालों के थे उतने ही उर्दू वालों के भी थे। इस विषय में उनकी स्थिति अद्वितीय थी। गत वर्ष जब पानीपत में हाली शताब्दी में सम्मिलित होने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था तो वहाँ उर्दू के कई प्रतिष्ठित लेखकों से बातचीत में प्रेमचन्दजी का जिक्र आया था। उर्दू के एक विद्वान् सज्जन ने कहा भी था, "प्रेमचन्दजी तो उर्दू से बरामद हो गए हैं। वे तो हमारे ही हैं।"

सी० एफ० एण्ड्रूज से प्रेमचंदजी की चर्चा कई बार हुई थी। उन्होंने प्रेमचन्दजी की एक कहानी 'ताप' के अंग्रेजी अनुवाद 'एटूज़' का संशोधन कर दिया था। और वह कहानी 'माडर्न रिव्यू' में छपी भी थी। मि० एण्ड्रूज प्रेमचन्दजी से

मिलने के उत्सुक थे और उनके आदेशानुसार शांति निकेतन से लिखा भी गया था कि वे कलकत्ते पधारें जहां कि मि० एण्ड्रूज स्वयं आ रहे थे, पर प्रेमचंदजी नहीं आ सके। मि० एण्ड्रूज प्रेमचंदजी की कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद के संशोधन करने के लिए और उनके प्रकाशित कराने के लिए तैयार थे। बात दरअसल यह थी कि प्रेमचंदजी अपनी रचनाओं के अनुवाद के विषय में बिलकुल उपेक्षा की नीति से काम लेते थे। मैंने उनकी सेवा में निवेदन भी किया था कि आपकी रचनाओं का अंग्रेजी अनुवाद आपकी कीर्ति के लिए नहीं बल्कि सभ्य जगत के सम्मुख हिन्दी वालों का गौरव बढ़ाने के लिए होना चाहिए। पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था "आपके पत्र के लिए और आप मेरी रचनाओं में जो दिलचस्पी लेते हैं उसके लिए मैं आपका अत्यंत कृतज्ञ हूं, लेकिन जब तक कि मुझे कोई सुयोग्य अनुवादक न मिल जाए तब तक पादरी एण्ड्रूज साहब को व्यर्थ के लिए तकलीफ देना ठीक न होगा। शायद अभी इसके लिए वक्त ही नहीं आया और जब कभी वक्त आएगा तो मददगार भी कहीं न कहीं से निकल ही आवेंगे।"

यह असम्भव है कि प्रेमचंदजी की चुनी हुई रचनाओं का अनुवाद अंग्रेजी में न हो क्योंकि वर्तमान भारतीय समाज का जैसा जीता-जागता चित्र उनकी रचनाओं में मिलता है वैसा अन्यत्र शायद ही मिले। कभी न कभी अंग्रेजी जानने वाली जनता प्रेमचंद की रचनाओं का स्वाद अपनी भाषा में लेने का प्रयत्न करेगी, पर यह सौभाग्यपूर्ण अवसर प्रेमचंदजी के जीवन में ही आ जाता तो कितनी अच्छी बात होती।

यद्यपि प्रेमचंदजी अपनी रचनाओं के अंग्रेजी अनुवाद के विषय में उदासीन-से थे पर अंग्रेजी जनता के सम्मुख हिन्दी वालों की रचनाएं तथा व्यक्तित्व के प्रकाशन को आवश्यक समझते थे। एक बार राय कृष्णदासजी के मकान पर (शायद यह द्विवेदी अभिनन्दन उत्सव का अवसर था) उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि 'लीडर' इत्यादि पत्रों में इस विषय पर लिखा करो।

प्रेमचंदजी दिल खोलकर प्रशंसा करते थे और दिल खोलकर निन्दा भी। ऐसे अवसरों पर अपनी लेखनी पर संयम रखना उन्हें पसन्द नहीं था। इस विषय में वे स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा की नीति का अवलम्बन करते थे। स्वर्गीय शर्मा की पुस्तक 'पद्मपराग' की आलोचना करते हुए मैंने 'विशाल भारत' में लिखा था "हमारा विश्वास है कि कठोर शब्द अंत में अपने उद्देश्य में विफल होते हैं। उनके प्रयोग से इस बात की आशंका रहती है कि कहीं असाधारण कठोरता के कारण पाठक की सहानुभूति उस व्यक्ति के प्रति न हो जाए, जिसके प्रति उन शब्दों का प्रयोग किया गया है।"

इसका उत्तर देते हुए शर्माजी ने लिखा था "मुझे डर है कि कृत्रिम-

बनावटी शान्ति के स्वप्न में आप लोग वीर रौद्र और भयानक रसों का सर्वथा लोप करना चाहते हैं, जो एकदम असम्भव और अव्यवहार्य है। किसी अत्याचारी, नालायक और क्रूर आदमी की करतूत पर क्रोध और घृणा आना स्वाभाविक धर्म है फिर उसे प्रकट करना क्या अधर्म है? यह तो एक तरह की मक्कारी है कि किसी दुष्ट पर क्रोध तो आवे इतना कि वह दनादन कर दे पर उसे शब्दों में प्रकट न किया जाए। ऐसा न आज तक हुआ है, न आगे कभी होगा। साहित्य में सब रस सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। भेड़िया के आगे हाथ-पाँव बाँधकर पड़े रहने का मूर्खतापूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह किसी काल में व्यवहार्य नहीं समझा जा सकता है। यह प्राचीन आर्य संस्कृति के विरुद्ध है। अस्तु आपका निर्णय फैसला सुनकर भी मेरी यही राय है कि दुष्ट धूर्त और लोकवंचक लोगों की जितनी भी कड़ी भर्त्सना की जाए उचित है, विहित है। अपने विरुद्ध फैसला सुनकर भू भ्रमणवादी गैलिलियो ने जज से कहा था, "आपका फैसला सुनकर भी यह कम्बख्त (भूमि) बराबर उसी तरह घूम रही है जरा भी तो न रुकी।' आपका फैसला सुनकर मैं भी यही अर्ज करता हूँ कि जनाब धूर्त और नृशंस व्यक्तियों की पोल खोलना, शब्दों के कोड़े लगाना, आज से हजार बरस बाद भी विहित समझा जाएगा इसमें जरा भी फर्क नहीं आएगा। आप लोगों के इस क्लीव क्रन्दन को—शान्ति पाठ को कोई न सुनेगा।'

जब श्रीयुत प्रेमचंदजी को मैंने उनके एक लेख की कठोरता के विषय में लिखा तो उन्होंने उत्तर में वैसे ही भाव प्रकट किए जो शर्माजी के पत्र में हैं, पर स्वर्गीय शर्माजी तथा प्रेमचंदजी के प्रति काफी श्रद्धा रखते हुए भी अब भी मेरा यही विश्वास है कि कठोर शब्दों का प्रयोग न करना ही अच्छा है। एक बार प्रेमचन्दजी ने फिर कठोर शब्दों का प्रयोग किया तो मैंने फिर उनकी सेवा में निवेदन किया। अब की बार वे मेरी बात से कुछ-कुछ सहमत हो गए। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था, 'आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाह के लिए मैं आपका हृदय से कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्ति के प्रति मेरे हृदय में कोई विद्वेष नहीं है बल्कि मैं उसके लिए दुखित हूँ, पर मुश्किल तो यह है कि हिन्दी पाठक इतने उथले हैं और सद्गुण विवेक-बुद्धि की उनमें इतनी कमी है कि जो कुछ उनके कानों में कोई डाल दे वे उसी पर विश्वास करने के लिए तैयार हो जाते हैं। हिन्दी पाठकों को तो यह निरंतर बतलाने की बात है कि सत्य क्या है लेकिन भविष्य में मैं अधिक संयम से काम लूँगा।'

जब 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद् का मुखपत्र बना लिया गया तो प्रेमचन्दजी ने उसे इस सूचना-पत्र को भेजते समय उसपर लाल स्याही से लिख भेजा, "मुंशीजी (श्री कन्हैयालाल मुंशी) ने तो आपको पत्र लिखे ही हैं। अब मेरा आग्रह है—

बनारसी-गान्ति के वस्त्र में आप लोग वीर रौद्र और भयानक रसों का सर्वथा लोप करना चाहते हैं, जो एकदम असम्भव और अव्यवहार्य है। किसी अत्याचारी नृशंस और क्रूर आदमी की करतूत पर क्रोध और घृणा आना स्वाभाविक धर्म है फिर उसे प्रकट करना क्यों अधर्म है? यह तो एक तरह की मक्कारी है कि किसी दुष्ट पर क्रोध तो आवे इतना कि वह बेताव कर दे, पर उसे शब्दों में प्रकट न किया जाए। ऐसा न आज तक हुआ है न आगे कभी होगा। साहित्य में सब रस सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। भेड़ियों के आगे हाथ-पाँव बाँधकर पड़ रहने का मूर्खतापूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह किसी काल में व्यवहार्य नहीं समझा जा सकता है। यह प्राचीन आर्य संस्कृति के विरुद्ध है। अस्तु, आपका निष्पक्ष फैसला सुनकर भी मेरी यही राय है कि दुष्ट, धूर्त और लोकवंचक लोगों की जितनी भी कड़ी भर्त्सना की जाए उचित है विहित है। अपने विरुद्ध फैसला सुनकर भू-भ्रमणवादी गैलिलियो ने जज से कहा था, 'आपका फैसला सुनकर भी यह कम्बख्त (भूमि) बराबर उसी तरह घूम रही है जरा भी तो नहीं रुकी। आपका फैसला सुनकर मैं भी यही अर्ज करता हूँ कि जनाब धूर्त और लम्पट व्यक्ति की पोल खोलना, शब्दों के कोड़े लगाना, आज से हजार बरस बाद भी विहित समझा जाएगा इसमें जरा भी फर्क नहीं आएगा। आप लोगों के इस क्लीव क्रन्दन का—शान्ति पाठ को कोई न सुनेगा।'

जब श्रीयुत प्रेमचंदजी को मैंने उनके एक लेख की कठोरता के विषय में लिखा, तो उन्होंने उत्तर में वैसे ही भाव प्रकट किए जो शर्माजी के पत्र में हैं, पर स्वर्गीय शर्माजी तथा प्रेमचन्दजी के प्रति काफी श्रद्धा रखते हुए भी अब भी मेरा यही विश्वास है कि कठोर शब्दों का प्रयोग न करना ही अच्छा है। एक बार प्रेमचन्दजी ने फिर कठोर शब्दों का प्रयोग किया, तो मैंने फिर उनकी सेवा में निवेदन किया। अब की बार वे मेरी बात से कुछ-कुछ सहमत हो गए। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था, 'आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाह के लिए मैं आपका दरअसल कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्ति के प्रति मेरे हृदय में कोई विद्वेष नहीं है बल्कि मैं स्वयं लज्जित हूँ पर मुश्किल तो यह है कि हिन्दी पाठक इतने उथले हैं और सदसत्, विवेक-बुद्धि की उनमें इतनी कमी है कि जो कुछ उनके कानों में कोई डाल दे वे उसीपर विश्वास करने के लिए तैयार हो जाते हैं। हिन्दी पाठकों को तो यह निरंतर बतलाने की बात है कि सत्य क्या है, लेकिन भविष्य में मैं अधिक संयम से काम लूँगा।'

जब 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद का मुखपत्र बना दिया गया, तो प्रेमचन्दजी ने छपा हुआ सूचना-पत्र को भेजते समय उसपर लाल स्याही से लिख भेजा 'मुन्शीजी (या कन्हैयालाल मुन्शी) ने तो आपको पत्र लिखे ही हैं। अब मेरा नम्बर है—

फकीरों का सवाल है सभी के ऊपर,
जुल्म या जियादती किसी के ऊपर।'

इस के विषय में उन्होंने बहुत से पत्र हिन्दी और उर्दू-लेखकों को लिखे थे। उर्दू लेखकों ने तो सहृदयतापूर्वक उनके पत्रों का स्वागत किया और उत्तर भी दिए पर हिन्दी के महारथियों ने जो कुछ किया वह उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिए: "उर्दू लेखकों ने तो मेरे निमन्त्रण का तुरन्त ही और विनम्रतापूर्वक जवाब दिया है लेकिन जो बहुत-सी चिट्ठियाँ मैंने हिन्दी के महारथियों की सेवा में भेजी थीं उनमें बहुत कम के जवाब आए हैं। अकेले बाबू मैथिलीशरणजी एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने उत्तर दिया है, दूसरों ने तो चिट्ठी की रसीद तक भी नहीं लिखी। हमारे हिन्दी लेखकों की यह मनोवृत्ति है।"

जागरण के मजाक के कालमों में इस तरह की बातें मेरे खिलाफ निकल गई थीं। मैंने उनकी शिकायत की। उसके उत्तर में प्रेमचंदजी ने एक बड़ा मर्मपूर्ण तथा उपदेशप्रद पत्र लिख भेजा था। उस पत्र के प्रारम्भिक अंशों को छोड़कर कुछ बातें यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा: 'जब कभी मौका पड़ा है, मैं हमेशा आपका पक्ष लेकर खड़ा हूँ और मैंने आपको उसी दृष्टि से लोगों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है जिस दृष्टि से मैं आपको देखता हूँ। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि साहित्य-सेवियों में कुछ लोग ऐसे हैं जो आपको बदनाम करते हैं और आपकी ईमानदारी को भी मानने को तैयार नहीं होते। इतना ही नहीं, कुछ महानुभाव तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं, लेकिन कौन व्यक्ति ऐसा है जिसके छिद्रान्वेषी न हों? मैं स्वयं निन्दकों से घिरा हुआ हूँ जो मुझपर हमला करने का कोई मौका नहीं चूकते। दुर्भाग्यवश हमारे साहित्यकारों में न तो विचारों की व्यापकता, उदारता है और न सहयोग की भावना। हमारे यहाँ एक दल ऐसा पैदा हो गया है जिसे दूसरों की वर्षों के परिश्रम से अर्जित कीर्ति को मटियामेट करने में ही मजा आता है। हमें अपनी आत्मा को पवित्र रखना चाहिए और यही सबसे बड़ी बात है। जान पड़ता है कि आप मजाक के छींटों को प्रायः गम्भीर मान बैठते हैं, लेकिन जब कभी कोई किसी के उद्देश्य को ही कलुषित बताने लगता है तब मामला गम्भीर हो जाता है। किसी के उद्देश्य पर शक करने को मैं किसी भी हालत में सहन नहीं कर सकता। निर्लेप छींटों की आपको परवा न करनी चाहिए। यदि आप इतने असहनशील हो जाएँगे तब तो आप अपने निन्दकों को और भी उत्साहित करेंगे कि वे आपकी पीठ में काँटे चुभोएँ। खिले हुए चेहरे से आप उन लोगों का सामना कीजिए। एक जमाना था जब किसी अमित्रतापूर्ण हमले से मुझे कई कई रात नींद न आती थी लेकिन वह जमाना गुजर चुका है और अब मैं अपने आपको ज्यादा अच्छी तरह समझता हूँ।

मैं एक लेख लिखना चाहता था—'भविष्य किनका है ?' और लेख मे हिन्दी के भिन भिन क्षत्रो के प्रतिभाशाली कार्यकर्ताओ का संक्षिप्त परिचय देना चाहता था। इस विषय पर मैंने प्रेमचदजी की सम्मति पूछी थी, सो उन्होंने विस्तारपूर्वक लिख भेजी थी।

सन १६३० म मैंने एक पत्र मे उनसे बहुत से प्रश्न किए थे। उनमे कुछ प्रश्न यह थ—(१) आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया था ? (२) आपकी सर्वोत्तम पन्द्रह गल्पें कौन कौन है ? (३) आपपर किस लेखक की शैली का प्रभाव विशेष पडा ? (४) आपको अपनी रचनाओ से अब तक कितनी आय हुई है ?

इन प्रश्नो के उत्तर मे प्रेमचदजी ने लिख भेजा था

(१) मैंने १६०७ म गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले १६०८ म मेरा सोजेवतन जो पाच कहानियो का सग्रह ह 'जमाना' प्रेस से निकला था, पर उसे हमीरपुर के कलक्टर ने मुझसे लेकर जला डाला था। उनके खयाल मे वह विद्रोहात्मक था हालांकि तब से उसका अनुवाद कई सग्रहो और पत्रिकाओ मे निकल चुका है।

(२) इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। २०० से ऊपर गल्पो मे—कहा तक चुनू लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हू (१) बडे घर की बेटी (२) रानी सारधा (३) नमक का दारोगा (४) सौत (५) आभूषण (६) प्रायश्चित्त (७) कामना (८) मदिर और मसजिद (६) घासवाली (१०) महातीर्थ (११) सत्याग्रह (१२) लांछन (१३) सती (१४) लैला (१५) मन्त्र।

(३) मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का प्रभाव नही पडा। बहुत-कुछ प० रतननाथ दर लखनवी और कुछ कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पडा है।

(४) आय की कुछ न पूछिए। पहले की सब किताबो का अधिकार प्रकाशको को दे दिया। 'प्रेम पचीसी' 'प्रेमाश्रम' 'सग्राम' आदि के लिए एक मुश्त तीन हजार रुपये हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने दिए। 'नवनिधि' के लिए शायद अब तक २०० रुपये मिले हैं। 'रग भूमि' के लिए १८००) दुलारेलालजी ने दिए। और सग्रहो के लिए सौ दो सौ मिल गए। कायाकल्प, आजाद कथा', प्रेमतीर्थ' 'प्रेम प्रतिमा, 'प्रतिज्ञा' मैंने खुद छापी पर अभी तक मुश्किल से ६००) रुपये वसूल हुए हैं और प्रतियां पडी हुई हैं। फुटकर सामयिक लेखो से शायद २५) माहवार हो जाती है मगर अब इतनी भी नहीं होती। मैं अब इस ओर माधुरी के सिवा कही लिखता ही नहीं। कभी-कभी विशाल भारत और सरस्वती मे लिखता हू बस। उर्दू अनुवादो स भी अब तक शायद दो हजार से अधिक न मिला होगा। ८००) म रगभूमि' और प्रेमाश्रम दोनों का अनुवाद दे दिया

था। कोई छापने वाला ही न मिलता था।

हंस और जागरण में प्रेमचंदजी को निरंतर घाटा होता ही रहा और कभी कभी तो यह घाटा दो सौ रुपये महीने से भी अधिक का हो जाता था। इसके कारण वे अत्यंत चिंतित रहते थे। खेद की बात है कि मेरा कोई भी प्रयत्न अब तक स्वावलम्बी नहीं हो सका। हंस में मुझे बहुत नहीं खर्च करना पड़ता, लेकिन 'जागरण' का बोझ असह्य हो रहा है। इस झंझट से निकला कैसे जाए इसी चिंता में दिमाग चक्कर खा रहा है। मैं करीबन २००) महावारी का घाटा दे रहा हूं। यह कब तक चल सकता है? एक बार इस जारी करने की मूर्खता कर चुकने के बाद अब इसका खात्मा करने में मेरी सुबुद्धि बाधक होती है। अन्य लोग इसपर क्या हमें न और खिल्ली उड़ाएँगे? यदि मुझमें इन दोनों पत्रों को बन्द कर देने की हिम्मत होती तो मैं इन तमाम परेशानियों से बच पाता। लेकिन मैं इतनी हिम्मत इकट्ठी नहीं कर पाता।'

मेरी यह आकांक्षा कि कभी प्रेमचंदजी और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ की बातचीत करते हुए सुनूं, मन की मन में ही रह गई। प्रेमचंदजी को शांति निकेतन बुलाने के लिए कई बार प्रयत्न किया, पर इसमें मुझे सफलता नहीं मिली। एक बार तो मुझे यह आशंका हो गई थी कि उन्होंने जानबूझकर मेरे निमंत्रण की उपेक्षा की है। जब काशी में जाकर मैंने उनसे पूछा कि आप शांति निकेतन क्यों नहीं गए तब उन्होंने बतलाया कि वे अपनी धर्मपत्नी तथा बच्चों को छोड़कर अकेले कविवर के दर्शनार्थ नहीं जाना चाहते थे और इतना पैसा उनके पास था नहीं कि सबकी यात्रा का प्रबंध कर सकते। हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार की इस आर्थिक परिस्थिति को सुनकर मुझे हार्दिक दुःख हुआ था। उस समय मैंने विशाल भारत में लिखा था, 'प्रेमचंदजी को अपनी पुस्तकों से जो आमदनी होती है उसका एक अच्छा भाग हंस और जागरण के घाटे में चला जाता है। कितने ही पाठकों का यह अनुमान होगा कि प्रेमचंदजी अपने ग्रंथों के कारण धनवान हो गए होंगे, पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दी वालों के लिए सचमुच यह कलंक की बात है कि उनके सर्वश्रेष्ठ कलाकार को आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः इसमें कुछ दोष प्रेमचंदजी का भी है जो अपनी प्रबंध शक्ति के लिए प्रसिद्ध नहीं और जिनके व्यक्तित्व में वह लौह दृढ़ता भी नहीं जो उन्हें साधारण कोटि के आदमियों के शिकार बनने से बचा सके। कुछ भी हो, पर हिंदी जनता अपने अपराध से मुक्त नहीं हो सकती। हमें इस बात की आशंका है कि आगे चलकर हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों को कहीं यह न लिखना पड़े— दैव ने हिन्दी वालों को एक उत्तम कलाकार दिया था, जिसका उचित सम्मान वे न कर सके।' ये पंक्तियां जनवरी सन १९३२ में लिखी गई थीं। दुर्भाग्यवश वे सत्य प्रमाणित हो रही हैं।

प्रेमचदजी के जीवन मे हम लोग उनका कुछ भी सम्मान न कर सके, यद्यपि वे खुद सम्मान के भूखे नहीं थे। जब नागपुर सम्मेलन के अवसर पर मैंने उनके सभापति होने का प्रस्ताव 'विशाल भारत' म किया था तो उन्होंने एक पत्र मे मुझे अपनी अनिच्छा तथा उदासीनता का वत्तान्त लिख भेजा था, पर हम लोगो का तो कर्तव्य था कि उनका सम्मान करके स्वय अपने को तथा अपनी सस्था को गौरवान्वित करते।

प्रेमचदजी की विद्वत्ता प्रतिभा अथवा लेखन शक्ति के विषय म कुछ लिखने के लिए यहा न तो स्थान ही है और न इन पक्तियो के लेखक मे इतनी योग्यता कि वह इस गम्भीर काय को सफलतापूवक कर सके। हा, प्रेमचदजी की सहृदयता क विषय म दो शब्द वह अवश्य कह सकता है। पिछली बार जब वे आगरे आए थे, तो मेरे छोटे भाई रामनारायण ने जो आगरा कालेज मे इतिहास का अध्यापक था अत्यन्त स्नेहपूवक मिले और मेरी लडकी को श्रीमती शिवरानीदेवीजी अपने साथ ही लिए रहा। काशी लौटकर प्रेमचदजी ने मुझे लिखा, 'ऐसे अच्छे भाई को पाकर आप अत्यन्त सौभाग्यशाली ह।' और प्रेमचन्दजी का कृपा-पात्र होना भी मेरे लिए कम सौभाग्य की बात नहीं थी। गत ५ अक्टूबर को छोटे भाई का देहान्त हो गया और तीन दिन बाद प्रेमचद-जी का स्वर्गवास।

मेरा दुर्भाग्य।

प्रेमचद एक स्मृति-चित्र

● बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

अब जो अपनी स्मृति का मैं पीछे दौड़ाता हू ता जान पाता हू कि मैं कहानीकार प्रमचद स कदाचित सन १६१५ १६ म, उनकी एक कहानी क द्वारा, परिचित हुआ था।

मैंने हिंदी भाषा की दो विभूतिया स एकसाथ ही परिचय प्राप्त किया था। व दो विभूतिया हैं कवीश्वर जयशकरप्रसाद और कथाकलाणव प्रेमचद। बात या है कि कदाचित सन १६१५ १६ म काशी स एक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई थी। उसका नाम था तरगिणी। उस 'तरगिणी म सवप्रथम मैंने प्रसाद जी की कविता और प्रेमचदजी की कहानी पढी थी। उसी समय से मैं समझ चुका था कि हमारे साहित्याकाश म य दो जाज्वल्यमान नक्षत्र उदित हो रह हैं।

तरगिणी म प्रेमचदजी की जो कहानी प्रकाशित हुई थी उसन मरे युवकमन को अभिभूत कर लिया था। उस कहानी का शीषक था पति हत्या म पतिव्रत। वह कहानी श्रीमती शिवरानीदवीजी के नाम स—जहा तक मुझे स्मरण है—छपी थी। प्रेमचदजी की रानी सारन्धा नामक कहानी की वह शीषक रूपातर मात्र था। उस कहानी ने मेरे विचारा और मरी भावनाओ पर जो आघात किया वह वणनातीत है। एसा भात हुआ जस मैं जाकर विन्ध्यादि से टकरा गया। क्या वणनसामथ्य धसान नदी के बहुत के ओप की चक्की के घुमर घुमर से कसी अद्भुत उपमा क्या सभाषण कौशल स्थानिक रगा को कसा यथाथ उभार रस का कसा परिपाक क्या ही उदात्त ज्वलन्त महामहिमामय चकित चमत्कारी हृदय की कलिया उच्छालनवाला, अविरल अश्रु धारासिक्त प्रणम्य अत। वह कहानी क्या थी वह तो जस हम तत्कालीन नवयुवको की साधना दीक्षा थी।

आज लाग जो कदाचित बहुत विद्वान हो गए हैं कह सकते हैं प्रेमचद की उन कहानियो में—छत्रसाल सारन्धा लाला हरदौल, आदि म—धरा क्या है? पूरा ऐतिहासिक या बूढ़ी-सदाचार मिश्रित जस नमक का दारागा वाली कहानी

म—रोमाचवाद है उन सब कथाग्रो मे। हो सकता है भाई, कि हम लोग, जो प्रमचद की पत्कर सिहर, हहर ग्रौर लहर उठते हैं, रोमाचवादी हो। पर, मैं क्या कह उन ग्रनबूडे बूडे विद्वानो को, जिनके बौद्धिक चकर डण्ड उह ग्रण्ड-वण्ट रसान्दोलन करत रहने के ग्रतिरिक्त ग्रौर कुछ नही सिखात ?

हा पर कह मैं यह रहा था कि प्रमचद की सारधा के द्वारा सवप्रथम मैं प्रमचद की दीप्तिमती प्रतिभा से परिचित हुग्रा। ग्रौर उसक उपरात तो मुझे उनके निकट ग्राने का ग्रौर उनके चरणो म बठन का भी सौभाग्य प्राप्त हुग्रा। मुझे एसा विश्वास है कि मैं उनके वात्सल्य ग्रौर स्नेह को भी प्राप्त कर सका था। ग्रनक वर्षों तक—प्रेमचदजी के जीवन भर—मेरा उनसे सामीप्य रहा। मैं कृतनतापूवक ग्राज यह स्मरण करता हू कि प्रेमचद के जस साधु स्वभाव स्वाभिमानी सरल सिद्धान्तपरायण, परदु खकातर, तीव्र सवेदनशील, ग्रजातशत्रु सत्पुरुष क सम्पक म ग्राकर मैं कृतकृत्य हुग्रा हू।

पाठको को कदाचित यह नात नही है कि जीवन क कुछ मासो तक प्रमचद-जी ग्रौर मैं कानपुर म, मारवाडी विद्यालय नामक सस्था म, एकसाथ ही ग्रध्यापन काय करते रह। यह कोइ सन १९२३ २४ ई० की बात होगी। प्रेम-चदजी उस विद्यालय क प्रधान शिक्षक थे। मैं भी वहा पढता था। उन दिनो की एकाधिक स्मृतिया ग्राज भी मर लिए लोमहषक बनी हुई हैं।

स्वर्गीय मुन्शी दयानारायण निगम उत्तरप्रदेश के उदू साहित्य स्रष्टाग्रो ग्रौर पारखियो मे ग्रग्रगण्य थे। उनके द्वारा सम्पादित 'ज़माना नामक मासिक पत्र वर्षों तक उदू साहित्यिको का मुखपत्र रहा है। उस पत्र म हैदराबाद के भूत-पूव निजाम तक यदा कदा लिखा करत थे। दयानारायणजी ग्रौर प्रेमचदजी घनिष्ठ मित्र थे। बहुधा मुशीजी की बैठक म ग्रखाडा जमता था। प्रेमचदजी गणगनकरजी दयानारायणजी मैं, कौशिकजी ग्रादि एकत्रित हो जाया करत थ। उन दिनों की बातें यदि कोई लिपिबद्ध कर लेता तो ग्राज वे साहित्य की पठनीय सामग्री म परिगणित होती।

प्रमचदजी प्राय 'प्रताप प्रेस म भी पधारा करत थे। उन दिनो देश मे हिदू मुस्लिम विद्वेष फल रहा था। ग्रनक नवयुवक काग्रेसजन भी उस साम्प्र-दायिक रोग म रजित हो चले थे। पर प्रेमचदजी तत्त्व को जान चुके थ। उनके मन पर उस विष का प्रभाव नही था। वे सदा ग्रपने से छोटो ग्रौर ग्रपने समान-धर्माग्रो को सहनशीलता ग्रौर उदारता का उपदेश देत रहते थे।

एक बार वे प्रताप कार्यालय पधारे। मैं प्रताप का सम्पादन उन दिनो करता था। मरे एक उप-सम्पादक किंचित् विद्वेषी मनोभावना के थ। बातचीत म हिंदू-मुस्लिम प्रश्न उठ ग्राया। मेरे उप-सम्पादक महाशय ग्रावेश म ग्राकर बोले इस साम्प्रदायिकता को रोकने का ग्रन्य कोई उपाय नही है। हमें ईट

तब अधिक हो गया है और कहानी का तत्त्व कम हो गया है।' प्रेमचंद के हाथ से लिखा यह पहला पत्र था। मेरे लिए यह बहुत बड़ी बात थी। इस पत्र ने मेरे मन पर गहरा प्रभाव डाला और मैं शुद्ध गद्य काव्य की ओर मुड़ गया।

मैं जून, १९३४ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में बी० ए० करने के लिए बनारस पहुंचा। मैं रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास आदि मनीषियों से शिक्षा ग्रहण करना चाहता था। जनार्दनराय नागर भी वहीं शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। मैं जनार्दनराय के साथ एक दिन प्रेमचंद से मिलने के लिए 'हंस' कार्यालय पहुंचा। वह कुछ लिखने में मग्न थे। हमें देखा तो लिखना बंद करके आह्लादित होकर मिले।

मैंने प्रेमचंद से कहा : आपने मुझे लिखने की प्रेरणा दी, इसके लिए आभारी हूं। प्रेमचंद बोले : तुम लिख सकते हो। तुममें लिखने की प्रतिभा है, विशेष रूप से गद्यकाव्य में तुम्हारी प्रतिभा दिखलाई देती है। तुम गद्यकाव्य लिखो, मैं 'हंस' में प्रकाशित करूंगा। उनकी इस प्रेरणा से मैंने अनेक गद्यकाव्य लिखे जो सन् १९३४, ३५ और ३६ के दरमियान 'हंस' में बराबर प्रकाशित होते रहे। प्रेमचंद मेरे गद्यकाव्यों का संकलन भी प्रकाशित करना चाहते थे लेकिन अचानक उनका स्वर्गवास हो गया। तब तक मैं कलकत्ता आ गया था और बाद में यहीं से वह संकलन 'वंदना' नाम से प्रकाशित हुआ। सौभाग्य से वह संकलन कवि गुरु रवींद्रनाथ ठाकुर को भी दिखा पाया। उन्होंने भी उसे पसंद किया और मुझे आशीर्वाद देते हुए लिखा : श्रीयुक्त भंवरमलजी हिन्दी साहित्य को प्राचीन रीति का बंधन मुक्त कर उस भाषा में नूतन प्राण संचार कर उसके भाषा क्षेत्र की सीमा प्रसार करने में प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें इस व्रत में सफलता मिले, यही मेरा आशीर्वाद है।'

प्रेमचंद जब बम्बई जाने लगे तो उन्होंने सरस्वती प्रेस के व्यवस्थापक प्रवासीलाल वर्मा को उन लेखकों की एक सूची दी थी, जिनकी रचनाएं उनकी स्वीकृति के बिना भी छापी जा सकती थीं। सौभाग्य से इस सूची में मेरा भी नाम था। प्रेमचंद कितने महान थे कि उन्होंने मुझ जैसे नये नये लेखक को यह गौरव प्रदान किया। इस प्रकार उनकी अनुपस्थिति में मेरे गद्यकाव्य 'हंस' में बराबर प्रकाशित होते रहे।

एक दिन मन में आया कि मैं कहानी भी क्यों न लिखूं? एक रात कहानी लिखने बैठा और दूसरे दिन 'हंस' कार्यालय जाकर प्रवासीलाल वर्मा को वह दे आया। उसके बाद वाले दो अंक निकल जाने पर भी जब कहानी नहीं छपी तब प्रवासीलाल वर्मा से मिला। उनसे इस स्थिति का कारण पूछा तो बोले, 'कहानी प्रेमचंदजी के पास गई है। उनकी सम्मति आने पर छपेगी।'

मैं बोला : प्रेमचंदजी ने मेरी रचनाओं को छापने की स्वीकृति पहले ही दे

नी है।

प्रवासीलाल का उत्तर था, "वह स्वीकृति केवल गद्यकाव्य के लिए है कहानी के लिए नहीं है।"

प्रवासीलाल ने लगभग एक मास के पश्चात मेरी वह कहानी लौटा दी। प्रेमचंद की उसपर लाल स्याही में बड़ी टिप्पणी लिखी हुई थी और अंत में लिखा था 'वाहियात'। मुझे इस समीक्षात्मक टिप्पणी से दुख नहीं हुआ, क्योंकि मैंने कहानी जोड़-तोड़ से ही लिखी थी। उनकी इस निन्दात्मक टिप्पणी को मैंने बहुत सजाकर रखा था, परन्तु सन् १९४२ के 'करो या मरो' आन्दोलन में जेल जाने के समय पुलिस के हाथों सब कुछ नष्ट हो गया। मेरी वह बहुमूल्य सम्पत्ति भी नष्ट हो गई। मेरी अंतिम रचना हिन्दी का अनुवाद साहित्य लेख था जो 'हंस' के जुलाई १९३६ के अंक में छपा था। बी० ए० की परीक्षा दे चुकने के बाद मैं अप्रैल १९३६ के अंत में जयपुर आ गया था। आने से पहले जब प्रेमचंद से मिलना हुआ तो यादें नहीं कम अनुवादों पर चल पड़ी थी। उन्होंने कहा, 'इस विषय पर एक लेख भेजना।' जयपुर आते ही उन्हें 'जीवन सरिता' नामक एक गद्यकाव्य भेजा जो 'हंस' के जून, १९३६ के अंक में प्रकाशित हुआ। इस गद्य-काव्य की प्राप्ति स्वीकार करते हुए उन्होंने लेख की बात याद रखी। अपने २१ मई १९३६ के पत्र में प्रेमचंद ने मुझे लिखा, 'आपकी रचना मिल गई। मैंने उसे 'हंस' में दे दिया है। लेख तैयार हो गया हो तो भेज दो जिसमें जुलाई में दिया जा सके।' अनुवाद साहित्य सम्बन्धी लेख भेजने के लिए यह तकाजा मेरे लिए इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि मैंने रात दिन एक कर शीघ्र लेख भेज दिया। 'हंस' के जुलाई १९३६ के अंक में निराला की कविता के बाद मेरा लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख के साथ प्रेमचंद ने जो टिप्पणी मेरे बारे में दी उसे पढ़ते ही मैं गदगद हो उठा। उन्होंने लिखा था 'आप एक होनहार नवयुवक गद्य गीत लेखक हैं। आपके गद्य गीत अभी से एक स्थान रखने लगे हैं। आपकी आलोचनात्मक और निबन्धात्मक रचनाएं भी गवेषणापूर्ण और मननीय होती हैं। अभी आप हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहे हैं।' तकाजे का यह पत्र और प्रशंसा की यह टिप्पणी मेरे लिए अद्भुत प्रेरणा सिद्ध हुई है। इसीका फल हुआ है कि मैं लेखक बन गया।

मुझे एक घटना सबसे ज्यादा याद है और सदैव याद रहेगी। सन १९३८ की बात है। मैं प्रेमचंदजी से मिलने के लिए उनके घर गया था। मैं जब उनके घर पहुंचा तो वे हाथ में एक कागज लिए हुए अपनी पत्नी शिवरानीदेवी के सम्मुख 'सुनो रानी मेरी बात सुनो' कहते हुए गिड़गिड़ा-से रहे थे। मुझे देखा तो बैठने के लिए कहा। मैं बैठक में जाकर बैठ गया परन्तु मुझे उनकी बातचीत सुनाई दे रही थी। शिवरानीदेवी कह रही थीं, 'तुम समझते नहीं हो। अभी प्रेस में काम

करने वालों के रुपये चुकाने हैं, अभी ममुर के पैसे देने हैं ।" प्रेमचंद कहते रहे 'सुनो, मेरी बात को समझने की कोशिश करो' यह कहते हुए याचना कर रहे थे। एक बार उन्होंने याचना के स्वर में कहा 'दो रुपये की ही तो बात है।' कुछ समय के पश्चात् याचना प्रार्थना का यह दौर समाप्त हो गया जैसे शिवरानी देवी से दो रुपये उन्हें प्राप्त हो गए हों। प्रेमचंद के चेहरे पर संतोष का भाव था। वे मुझसे इंतजार करने को कहकर तेजी से घर से बाहर चले गए। प्रेमचंद १५-२० मिनट के पश्चात लौटे तो उनके चेहरे पर उत्फुल्लता एवं आनंद का अद्भुत भाव था। उनके हाथ में किसी अनजान एवं साधारण व्यक्ति का पोस्टकार्ड था। उन्होंने उस पोस्टकार्ड को पढ़कर सुनाया "आदरणीय, मैंने एक कहानी लिखी थी जो अभी तक छपी नहीं है। सम्भव है वह छापने के योग्य भी न हो। मैं तो अभी लिखना सीख रहा हूं। मेरी माँ बहुत बीमार है। उसपर यक्ष्मा का सन्देह किया जा रहा है। यदि आप उस कहानी के लिए दो रुपये भेज दें तो मैं बूढ़ी माँ का एक्सरे करा लूँ।" वे उस अपरिचित लेखक को दो रुपये भेजना चाहते थे और अपनी पत्नी से दो रुपये मांग रहे थे। पत्नी की बार-बार सुनी अनसुनी के पश्चात जब वे दो रुपये का मनीआर्डर कर आए तब उन्हें संतोष एवं शान्ति मिली। इस घटना से मेरे मन पर प्रेमचंद सम्वेदना की जीवित-जाग्रत मूर्ति के रूप में स्थापित हो गए और अब उनके पात्रों की सृष्टि दूसरे ही अर्थ में दिखलाई देने लगी।

मेरे जीवन पर प्रेमचंद के जीवन एवं साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा। प्रेमचंद छोटे से छोटा काम भी स्वयं करते थे। उन्होंने अपने जीवन में हजारों पत्र अपने हाथ से लिखे। उन्होंने अनेक नवयुवकों को रचनाकार बनाया और उदात्त मूल्यों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी। प्रेमचंद सम्वेदना की क्षमता और दृष्टि का एक सुन्दर समन्वित व्यक्तित्व था। विपन्नता में रहकर भी उन्होंने सदैव उदात्त मूल्यों को अपनाया और उनके लिए संघर्ष किया। उनसे मैंने वेदना का नया अर्थ पाया। वेदना को मैंने जीवन के सर्वोत्तम मूल्य के रूप में पहचाना। एक दिन मैं जब प्रेमचंद से मिलकर होस्टल लौटा तो अपनी डायरी में लिखा था "हम वे आंखें बन्द कर देनी चाहिए जिन्हें जीवन में नश्वरता के सिवा और कुछ नहीं दिखता, केवल वे आँखें चाहिए जिनमें वेदनामय जीवन-संघर्ष को सराहने की शक्ति हो।" यही बात उन्होंने बाद में प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भी कही थी 'कलाकार वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है उतना ही उसकी रचना में जोर और सच्चाई पैदा होती है।' इस प्रकार प्रेमचंद से मुझे वेदना मिली, उसका वास्तविक दर्शन मिला। प्रेमचंद सचमुच वेदना के तपस्वी थे।

एक अकिंचन छात्र के संस्मरण

● मन्मथनाथ गुप्त

जब १९२१ में गांधीजी ने असहयोग आंदोलन चलाया तो उसकी कार्यसूची में अध्यापकों और छात्रों को सरकारी या अर्ध-सरकारी स्कूलों और कालेजों में से, जिन्हें गुलामखाना बताया गया, निकल आने के लिए कहा गया। बंगाल में बंगभंग के विरुद्ध १९०५ में जो स्वदेशी आन्दोलन हुआ था, उसमें भी एक प्रमुख नारा यह था। इस प्रकार का अर्थ यह था कि इन संस्थाओं के जरिये विदेशी सरकार मस्तिष्क प्रक्षालन (brain washing) करती है और गुलाम उत्पन्न किए जाते हैं। यह एक तरह का चमत्कार ही समझा जाना चाहिए कि इसके बावजूद इन्हीं संस्थाओं में से सैकड़ों शहीद स्वातंत्र्य-योद्धा, चिंतक, साहित्यकार, कवि मनीषी निकले।

१९२१ में मैं काशी में था। यही मेरी जन्मभूमि थी। यहां से उन दिनों जिन अध्यापकों ने असहयोग किया था, उनमें अध्यापक कृपलानी (जीवतराम भगवानदास कृपलानी) बाद को प्रसिद्ध हुए। असहयोगी छात्रों में जो लोग बाद को प्रसिद्ध हुए, उनमें थे—लालबहादुर शास्त्री, कमलापति त्रिपाठी, रामनाथ लाल सुमन, हरिहरनाथ शास्त्री, राजाराम शास्त्री (द्वय), बेचन शर्मा उग्र, बजरंगबली गुप्त (प्रकाशक-लेखक)। मैं भी असहयोगी छात्रों में हो गया।

गांधीजी ने नारा तो दे दिया कि गुलामखानों का बायकाट करो। हजारों की संख्या में छात्र निकल आए। कई दिनों तक सारे स्कूल-कालेज खाली रहे, पर कुल मिलाकर मुश्किल से तीन-चार सौ छात्र ऐसे होंगे, जो अपने गुलामखानों में लौट नहीं गए। अब इन तीन-चार सौ छात्रों का क्या हो? इस प्रकार एक शून्यता पैदा हो गई, जिसकी पूर्ति के लिए नये विद्यालय और महाविद्यालय खोलना जरूरी हो गया। पर इसके लिए साधन जुटाना बहुत कठिन था। काशी के असहयोगी छात्रों का सौभाग्य था कि शिवप्रसाद गुप्त जैसे देशभक्त पूंजीपति सामने आए, उन्होंने अपने स्वर्गीय अनुज के नाम से दस लाख की एक निधि स्थापित की। शिवप्रसाद गुप्त अपने ढंग के बाहिद व्यक्ति थे। वह

दैनिक 'आज' के संस्थापक थे। किंवदन्ती थी कि रोज उसमे ६४ रु० का घाटा होता है। तिसपर भी वह 'आज' के अलावा 'मर्यादा' (उच्च कोटि का साहित्यिक सामाजिक मासिक) और स्वार्थ (अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र का मासिक) निकालते थे जिनके सम्पादक थे बाबू सम्पूर्णानन्द। ये दोनो पत्र भी घाटे पर चलते थे। मर्यादा वही पत्र है जिसमे चन्द्रशेखर आजाद का पहला फोटो वीर बालक नाम से छपा था जब वह पन्द्रह बेंत खाकर भारतप्रसिद्ध हो चुके थे क्योकि हर बेंत पर उन्होने महात्मा गाधी की जय का जयघोष किया था, ललकार के साथ। प्रेमचद कुछ दिन मर्यादा मे काम करते रहे। डेढ साल तक यहा टिके (कथाकार प्रेमचद, पृ० १२२)।

शिवप्रसाद गुप्त ने धन दिया और डा० भगवानदास, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्रीप्रकाश सम्पूर्णानन्द यज्ञनारायण उपाध्याय आदि ने नाममात्र पारिश्रमिक पर अध्यापक बनना स्वीकार किया गाधीजी ने आकर विद्यापीठ की विधिवत स्थापना की इस प्रकार काशी विद्यापीठ का सगठन हुआ। प्रेमचद की मृत्यु (८ अक्टूबर १९३६) के बाद प्रकाशित हस के प्रेमचद स्मृति अक मे लिखते हुए रघुपति सहाय फिराक ने लिखा था

'असहयोग आन्दोलन के दिनो म जो थोडे से राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हुए थे उन्हीं मे से काशी विद्यापीठ भी है। प्रेमचदजी को भी इस विद्यापीठ म कुछ दिनो तक प्रिंसिपल के रूप म सेवा करनी पडी थी।'

(पृ० ८८६)

पर यह बात एक हद तक गलत है। प्रेमचन्द काशी विद्यापीठ के कालेज के प्रिंसिपल नही, बल्कि वह विद्यालय (जो कुमार विद्यालय के नाम से परिचित था) के प्रधान शिक्षक थे। मैं वहा उस समय उच्च कक्षा का छात्र था।

१९२१ के असहयोगी स्कूली छात्रो की शिक्षा के लिए दो ही स्कूल खुल सके थे। एक गाधी विद्यालय दूसरा कुमार विद्यालय। गाधी विद्यालय म कई ऐसे शिक्षक थे जसे विचित्रनारायण शर्मा जो स्वय असहयोगी कालेज छात्र थे। मुझे याद है हमारे कई शिक्षक जो जोश मे आकर असहयोगी बन गए थे बाद को एकाएक परिवार के दबाव से अपने कालेजो मे लौट गए। जब यह खबर आती थी तो छात्रो और बचे हुए शिक्षको मे मातम छा जाता था। एक प्रकार का भय भी लगता था कि कल तक इतने जोश की बातें करते थे और आज वह दूसरे खेमे में चले गए। कालज छोडकर आनेवाले साथ ही अन्त तक टिकनेवालो मे धीरेन्द्र मजुमदार भी थे जो अन्त तक कट्टर गाधीवादी रहे। यह सुचेता कृपलानी के परिवार के थे। उनके एक भाई आई० सी० एस० थे। धीरेन्द्र इतने कट्टर थे कि मा को, जो हिन्दी नही जानती थी बगला की बजाय हिन्दी मे पत्र लिखते थे। छात्र और शिक्षक सभी चर्खा कातते थे।

पाठ्यक्रम के अन्तर्गत चर्खा चलाने का एक घण्टा होता था। हमारे घरो मे भी चर्खा चलने लगा था। एक चर्खा दो स पाच रुपये मे आता था।

गाधी विद्यालय और कुमार विद्यालय अलग अलग चलते रहे। दोनो मे एक तरह की प्रतिद्वंद्विता रही। प्रथम के सर्वेसर्वा थे अध्यापक कृपलानी। १९२१ के दिसम्बर मे जब हम जेल गए थे प्रिंस आफ वेल्स के बायकाट का इश्तहार बाटकर या उससे पहले जब हम गर्मी की छुट्टियो मे सुलतानपुर के गावों म काग्रेस का प्रचार करने के लिए गए थे, तो इसी स्कूल के छात्र के रूप में गए थे।

इस कारण हम लोग अपने को कुमार विद्यालय क सेट अप स श्रेष्ठ मानते थे, पर ऊपर ही ऊपर कुछ हुआ आखिर हम भी कुछ दिनो म काशी विद्यापीठ कालेज म आना था हुआ यह कि गाधी स्कूल कुमार विद्यालय म विलुप्त हो गया। अध्यापक कृपलानी अब गाधी आश्रम खद्दर विभाग म सारा समय देने लगे। विचित्रनारायण धीरेन्द्र मजुमदार सब उसीम रह गए। ये लोग हम स्कूली छात्रो की सहायता म मुहल्ला म खद्दर की फेरी करते थे।

कुमार विद्यालय उस समय भदनी के एक मकान मे चल रहा था। वही प्रेमचद प्रधान शिक्षक क रूप म आए। शिक्षा क्षेत्र मे काम उनके लिए नई बात नही थी। वह कानपुर के मारवाडी स्कूल म हेडमास्टर के रूप म काम कर चुके थ। रघुपति सहाय फिराक ने १९३७ मे लिखा था, 'जब सन् १९१९ म वह अपना उत्साहपूर्ण प्रेमाश्रम (जिसका अनुवाद उर्दू मे 'गोशए आफियत' नाम स प्रकाशित हुआ है) लिख रहे थे, तब वह स्कूल मे पढाते भी थे और बोर्डिंग हाउस के सुपरिण्टेण्डेण्ट का काम करते थे। फिर उसी रवा रवी म बिना कोई परिश्रम किए दूसरे दर्जे म बी० ए० की डिग्री हासिल कर ली थी यद्यपि उन्होने अपने सारे जीवन मे कभी एक विद्यार्थी के रूप मे किसी कालेज मे पर तक नही रखा था (हस प्रेमचद अक, प० ८८८)।' ऋषभचरण ने उनका उल्लेख मारवाडी विद्यालय के हेडमास्टर के रूप म किया है (हस पृ० ८६०) पर इसस भी विश्वास्य कानपुर के सद्गुरुशरण अवस्थी का लिखना है मैंने जब पहले पहल उन्हें देखा तो वे कानपुर के मारवाडी विद्यालय के प्रधानाध्यापक थ (हस, पृ० ९३९)।

कुमार विद्यालय म उनका वेतन १३५ रु० मासिक था। मैंने कथाकार प्रेमचद में (प्रकाशित १९४७ ७६८ पृष्ठो की यह पुस्तक किताब महल इलाहाबाद से छपी थी) लिखा था

राष्ट्रीय विद्यालय होने पर भी वहा का वातावरण उनकी मुक्त प्रतिभा क लिए विशेष अनुकूल सिद्ध नही हुआ। मैं उन दिनो विद्यापीठ म छात्र था। वह विद्यापीठ के अधिकारियो स जहा तक हो सके कम मिलते थे अपने काम म

काम रखत थे। छात्रो म वह बहुत प्रिय थे। विशेषकर उच्च कक्षा के छात्र यह जानत थे, व हिंदी के सवश्रेष्ठ उप यासकार प्रमचद है ग्रौर इसपर उहे गव था। उम समय तक सवासदन' ग्रौर प्रेमाश्रम दा ही उपयास ग्रौर कुछ गल्पसग्रह प्रकाशित हुए थ कितु इ हीका बदौलत वे हिंदी के सवश्रेष्ठ उपयासकार मान लिए गए थे (पृ० १२२)।

मैंने जब यह पुस्तक लिखी थी (यह पुस्तक जेल मे १६३६ ४५ के दौरान लिखी गई थी) तब मैंन यह साफ नही लिखा था कि राष्ट्रीय विद्यालय का वातावरण उनक लिए क्या विशेष ग्रनुकूल सिद्ध नही हुग्रा। न प्रेमचद ने इसे कभी स्पष्ट किया न राष्ट्रीय विद्यालय की ग्रोर से इस विषय पर किसीने कुछ लिखा। यदि मैं न लिखता तो शायद इस पक्ष का कोई जिक्र नही ग्राता। बाद को जब मैंने सोचा तो मुझे लगा कि उस समय यद्यपि गाधीजी का ग्रभी पहला ग्रादोलन चला था (जिसपर कथित चौरीचौरा काड के बहान ग्रत्यत गलत तरीके स मोतीलाल जवाहरलाल, सुभाष लाजपत राय सबकी राय के विरुद्ध गाधीजी न ब्रेक लगा दिया था) ग्रौर लगभग २५००० स्वातत्र्य योद्धा जेल गए थे इन जेलपलट लोगा की एक जाति बन चुकी थी जो ग्रपने को इस नये युग के द्विज समझते थे। प्रमचद इन द्विजों म नहीं थे। स्वाभाविक रूप स वह इनमे एक बाहरी या ग्रजनबी समझ जात थे। किसीने कहा नही पर दोनो पक्ष इस बगानगी की ग्रदृश्य दीवार से परिचित पीडित थे।

इसी कारण प्रेमचद विद्यापीठ के ग्रधिकारिया स जहा तक हो सके कम मिलत थे। वह खद्दर के प्रति भी उस तरह प्रतिबद्ध नही थ जिस तरह हम जेलपलट लोग थ।

जब हम इसपर ग्रौर गहराई म उतरकर विचार करत हैं तो देखते हैं कि प्रेमचद जस ग्रत्यत ग्रनुभूतिशील व्यक्ति ने जब इस प्रकार बहुत निकट से स्वातत्र्य-योद्धाग्रा म सबस प्रबुद्ध लोगो को देखा (डा० भगवानदास, ग्राचाय नरेन्द्रदेव सम्पूर्णानन्द सरीखे प्रबुद्ध स्वातत्र्य योद्धाग्रा म थे), ग्रौर उन्ह ग्रपने प्रति ठण्डा ग्रौर उदासीन पाया तो उनके कम्प्यूटर न कुछ ग्रहम नतीजे निकाले। इसलिए हम यह देखत हैं कि मानसिक रूप स गाधीवादी ग्रहिंसात्मक सग्राम के प्रशसक होन पर भी उनकी कलम से कही भी स्वातत्र्य-योद्धाग्रा के प्रति विशेष प्रशसात्मक कोई वाक्य नहा निकला। खद्दर ग्रौर चखा की प्रशसा म वह कभी शतमुख नही हुए। मोटेराम शास्त्री ग्रादि चरित्र म उन्होंने गाधीवादी राजनीति म पल ढाग ग्रौर ढकोसले को कोसा ग्रौर उनकी खिल्ली उडाई। गाधीवादिया म जो ढोग ग्रौर ढकोसला बाद म ग्राम हो गया उसका बीज तभी उत्पन्न हुग्रा था।

प्रेमचद इस वातावरण म टिक नही सके ग्रौर मौका मिलते ही वह उसस

रस्सी तुड़ाकर भाग खड़े हुए, यह डा० भगवानदास आदि के हक़ में कोई श्लाघा की बात नहीं। राष्ट्रीय विद्यालयों में शुरू से ही पढ़ाई हिन्दी में हुई, पर प्रेमचन्द, जो उस युग में ही हिन्दी भारती के सबसे प्रसिद्ध और बहुचर्चित व्यक्ति हो चुके थे। उन्हें अपने बीच पाकर भी खो देना विद्यापीठ के परिवालकों के लिए कोई गौरव की बात नहीं रही। प्रेमचन्द जेल नहीं गए थे, न चर्खा कातते थे, (उन दिनों दिखा दिखाकर चर्खा या तकुली कातना प्राय फैशन हो चुका था जैसे सभा धर्मों के अवलम्बरदार दिखावटी माला जपते हैं), पर प्रेमचन्द अंगड़ाई लेकर तनकर खड़े होने वाले भारतीय राष्ट्र के कथाकार प्रवक्ता और तरजमान हो चुके थे। मुझे याद नहीं आता कि कभी हम छात्रों को किसी उस वक्त होने वाली असंख्य सभाओं में (स्कूल में भी होने वाली) यह अधिकृत रूप से बताया हो कि यह प्रेमचन्द हैं, ये हमारे लिए गौरव की बात है कि वे हमारे साथ हैं।

असहयोग से बहुत पहले से चालू क्रांतिकारी आन्दोलन में बंकिमचन्द्र को वन्दे मातरम का ऋषि पदवी दी गई, उनके और रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यास छिपते हुए क्रांतिकारियों को पढ़ाया जाता था इत्यादि। वहां काशी विद्यापीठ ने प्रेमचन्द को पाकर भी खो दिया यह एक चिन्तनीय विषय है। डा० रवीन्द्र नाथ ठाकुर के प्रति गांधी आदि सभी श्रद्धा रखते थे पर प्रेमचन्द को जैसाकि हम बता चुके एकमात्र भारतीय कलाकार थे जिसकी कृतियां में गांधीवाद की स्वीकृति मिली उनके प्रति स्वातन्त्र्य योद्धा किसी प्रकार प्रशंसा की भावना रखते थे इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं। जब 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' के लाल बुझक्कड़ों ने और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महास्थविरों ने प्रेमचन्द को नहीं पहचाना तो हम डा० भगवानदास को जिनका साहित्यिक नाता संस्कृत और और अंग्रेजी हिन्दी में अधिक से अधिक सूर तुलसी कबीर दादू तक सीमित था उन्हें हम कैसे दोष दे सकते हैं ? अस्तु।

विद्यापीठ विद्यालय में वह हमें भूगोल पढ़ाते थे और सबक से हटकर वह भ्रमणवृत्तान्तों से लेकर अपने कथ्य को कहानी की तरह दिलचस्प बना देते थे। उनके पास कोई न कोई विदेशी उपन्यास होता था जिसे वह खाली घण्टे में पढ़ते थे। मैंने कई बार देखा पर एक बार की बात याद है, वह आनातोल फ्रांस की रचना थी।

उन दिनों मेरे एक सहपाठी थे जनार्दन झा द्विज। उसने एक बार पूछा भी था—आप फ्रेन्च उपन्यास पढ़ते हैं। इसपर प्रेमचन्द ने कहा—मुझे फ्रेन्च उपन्यास बहुत पसन्द हैं।

जनार्दन झा कविताएं लिखते थे द्विज उपनाम से नियम से कई आज में छपती थीं। जनार्दन झा को कुछ पारिश्रमिक (उस जमाने में इसे पुरस्कार कहा जाता था) भी मिलता था। मैंने और झा ने उस समय तक प्रकाशित प्रेमचन्द

की सारा कृतियां पढ़ी थी। इन्हीं दिनों उस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' में प्रेमचंद के विरुद्ध जोशी बन्धु (इलाचन्द्र या डा० हेमचन्द्र ?) का एक लेख छपा, जिसमें प्रेमचंद पर बहुत जोर से आक्रमण किया गया था।

खाली घण्टे में प्रेमचंद कुछ पढ़ते या सोचते थे। वह अपने कथानक के स्वप्न में ऐसे डूबे रहते थे कि यदि कोई अकस्मात चुपचाप बैठ देख लेता तो वह उसे अफीमची या स्वप्नद्रष्टा मान लेता। वह अपने अंतर्जगत में ही निवास करते थे। अवश्य जैसा कि हम बता चुके हैं वे अपने चरित्र के स्वप्नद्रष्टत्व को अपने काम के बीच में आने नहीं देते थे। कभी किसी छात्र को यह शिकायत नहीं हुई कि उन्होंने पढ़ाने में कम ध्यान दिया। हेडमास्टर कहने से जिस प्रकार होए या बोध होना है, उनके व्यवहार से उस प्रकार की कोई बात नहीं टपकती थी। वह शायद उनका सबसे बड़ा गुण था। केवल क्लास के घण्टों में ही नहीं यदि कोई छात्र अपनी अधकचरी लेख आदि लेकर उनके पास पहुंचता था, तो वह बड़े चाव से उसे सुनते थे और अपने सुझाव पेश करते थे। (कथाकार प्रेमचंद पृ० १३८)

जब वह माधुरी वाला लेख एक बम की तरह फटा तो उसका धमाका मुझ तक और मेरे सहपाठी जनार्दन झा तक पहुंचा। स्वयं प्रेमचंद विद्यालय में उस लेख को ले आए और हम लोगों ने उसे पढ़ा और हम उत्तेजित हुए। यद्यपि जनार्दन झा हमारे सहपाठी थे वह हमसे कई साल बड़े थे और उनकी मुझसे अधिक रचनाएं छप चुकी थीं। वह दाढ़ी मुड़ाना शुरू कर चुके थे और सम्भव है विवाहित थे। वह मेरी तरह जेल नहीं गए थे यद्यपि असहयोगी थे। जनार्दन झा ने दो तीन दिन के अन्दर ऐसा लिखा जोशी के लेख के उत्तर में। कई दिनों तक प्रेमचंद और जनार्दन झा आलोचना करते रहे मैं श्रोता था। बड़ा अच्छा होता यदि इस लेख के पूरक रूप में हम जोशी का वह लेख छाप पाते और साथ ही जनार्दन झा का वह उत्तर छाप पाते। प्रेमचंद स्कूल छोड़कर चले गए, मैं दो साल में जेल चला गया (द्वितीय बार) पर जनार्दन झा प्रेमचंद से मिलते-मिलाते रहे। उन्होंने प्रेमचंद की उपन्यास कला नाम से एक पुस्तक लिखी जो मेरे सामने उस समय मौजूद थी, जब मैं जेल में प्रेमचंद पर अपना विराट ग्रन्थ लिख रहा था जैसा कि उसके अन्त में दी हुई सहायक पुस्तकों की सूची से प्रमाणित है। यह आश्चर्य की बात है कि प्रेमचंद की मृत्यु के ऐन बाद जो बाबूराव विष्णु पराड़कर के सम्पादकत्व में मई १९३७ में जो प्रेमचंद स्मृति अंक निकला उसमें जनार्दन झा का कोई लेख नहीं है पर प्रेमचंद के साथ जनार्दन झा द्विज का एक काफी बड़ा फोटो है जिसमें फोटो की बाईं तरफ अंग्रेजी में तारीख

है—जुलाइ, १६३३, और लिखा है

मास्टर साहब को

सादर भेंट

—जनादन।

तोगे किसी बन्द खिड़की के बगल में लिया गया था उस खिड़की पर में लिखा है—३१ जुलाई १६३३ ई०। प्रेमचद और द्विज आमने सामने। द्विज जहां बैठे हैं उसके नीचे लिखा है द्विज। स्पष्टत यह फोटो द्विज ने या था और फोटो पर जो कुछ भी लिखा है द्विज के हस्ताक्षर में है। स अलग ऊपर शिरोनाम के रूप में छापे के हरफों में लिखा है—स्वर्गीय द और श्री जनादन झा द्विज। १६३७ में जब मैं बारह साल जेल में र छूटा तो द्विज जीवित थे। पता प्राप्त कर मैंने उनको एक पत्र लिखा, का उत्तर भी मिला था, पर हम लोगों की भेंट फिर न हो सकी। यद्यपि की रचनाएं मैं पढ़ता रहा। वह यौवन में ही मर गए।

जोशी और द्विज के लेख अब फिर छप जाएं तो प्रेमचद के जीवन के एक याय पर पूरी रोशनी पड़े। मुझे याद है कि द्विज ने कई बार लेख को प्रेमचद सामने सुधारा माजा फिर वह छपा। बात ऐसी है कि बहुत जल्दी छपा, पर लेख मिलने पर ही पूरा पता मिलेगा। बाद को प्रेमचद स्मृति अंक में द्र जोशी ने यह सफाई दी कि प्रेमचद के विरुद्ध लिखने पर भी उसी में उनकी आधारभूत शक्ति और प्रतिभा की स्वीकृति थी। यथार्थ वह में मैंने लिखा यह गलत है। इन सारी बातों के कारण उन लेखों का ना छपना जरूरी है।

पहली मुलाकात

● प्रो० रशीद अहमद सिद्दीकी

प्रेमचद मालूम नही किस काम से उन्ही दिनो अलीगढ़ आए हुए थे और बगाली कोठी म मुकीम थे या शायद किसीसे मिलने आए थे। पहले-पहल वहा मुलाकात हुई। तहरीरो म गमी और गमख्वार नजर आते हैं। बात करने मे बेतकल्लुफ और शगुफ्ता थे। कई और असहाब मौजूद थे। प्रेमचद सबसे हस-बोल रहे थे। मैंने कहा मुन्शीजी, आप इतने गाव के मालूम नही होते जितने खुद गाव हैं।

बडे जोरो से हसे। प्रेमचन्द जरा भी खुश होते तो बसाख्ता कहकहा लगाते। बोले 'गाव नही, गाव का घूरा।

मैंने अर्ज किया 'यही सही। उसपर काशी फन की बेलें फैलें, फूल खिलें और फल लगे हा।

खामोश हो गए। फिर बडी हसरत से बोले 'नही भाई साहब जिस बेल और फूल फल की तरफ आप इशारा कर रहे हैं वह कहा मेरी किस्मत म। बेल और फूल नही बनता है। घूरे मे मिल जाना है तब कही जाकर शायद इसपर बेल चढ़ें फूल खिलें और फल आए।

मैं भी चुप हो गया जसा एक हकीकत मनकशफ हुई हो। फनकार हो, मुजाहिद हो या पगम्बर हो, खुद फूल बनकर नहीं खिलते। उनके मिट्टी म मिल जाने से फूल खिलते हैं खुशबू और खूबसूरती फलती है व बर्गोबार होते हैं और बहार खमाजन होती है।

मानवता का प्रतीक प्रेमचद

● श्री रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'

मैं प्रेमचन्द के व्यक्तित्व को अतीत की एक याद मात्र नहीं स्वीकारता हू। मुझे आज भी उनके अंतिम समय का साहित्य, एक सबल गति से जनपदीय भावाई लेखकों की रचनाओं मे भाकता हुआ मिलता है। मेरा विश्वास है कि अपने जीवनकाल मे, अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने जिन मानवीय गुणो की स्थापना की वे आज भी हमारे समाज का मनोबल बना रही हैं। मैं उनको उर्दू का लेखक मानता हू और उनकी भाषा हिन्दी नहीं है। उनका अधिकतर साहित्य उर्दू से अनुवादित हुआ है। यही कारण है कि एक भी हिन्दी की कहानियो की पाडुलिपि उपलब्ध नहीं है। स्वय उन्होंने अपने पत्रों मे अनुवादको को पारिश्रमिक देने की चर्चा की है। उनकी हिन्दी की कहानियो की भाषा भी उनकी प्रतिनिधि भाषा नहीं है। उस युग के प्राइमरी तथा मिडिल पास लेखको, जिनका सस्कृत से लगाव था उनकी हिन्दी मे एक ओज और गति है, जिसका कि प्रेमचद मे सर्वथा अभाव है।

सन् १६५० ई० मे एक नवयुवक साहित्यकार मित्र ने लेख लिखकर साबित करने की चेष्टा की थी कि उनकी मृत्यु के लगभग १४ साल बाद हिन्दी का कथा-साहित्य प्रेमचद युग से हजार कदम आगे ही आया है। उस समय मुझे प्रेमचद के हमा के ठहावों ने एकाएक चौंका दिया था। वस्तुस्थिति यह थी कि महायुद्ध के बाद हमारे सामाजिक जीवन मे एक भारी ठहराव आ गया था। फिर स्वतत्रता के बाद हमारे समाज ने जितनी मजिलें पार की हमारे पारिवारिक जीवन मे जो परिवर्तन हुए, देश का जन जन जिन सास्कृतिक और आर्थिक सकटो से गुजरा उस सबका प्रतिघोष प्रेमचन्द की रचनाओं मे प्राप्त उद्घोष हम उनके बाद यशपाल को छोडकर अन्य किसी मौलिक लेखक मे नहीं मिलता है। हमारा लेखक पाश्चात्य शिल्प का अनुयायी अपनी सामाजिक दुनिया मे ग्रस्त अपनी साहित्यिक परपराओ से अनभिज्ञ अपना ही धरती मे बसा हुआ, साहित्याकाश मे भूलता हुआ-सा लगता था। वह नगरीय साहित्यकार साहित्य

मे भटकाव लाया। प्रेमचद के अतिम सस्कारो के उत्कृष्ट दीप्त और कीर्तिमान बलवान चरित्र मात्र जनपदीय लेखको और किसान और मजदूरो के साथ साम ती समाज स जूझते हुए लेखको म हम यदाक्दा मिले।

हिन्दी का कथा साहित्य सन १६३५ इ० तक तो स्वतत्रता आन्दोलन के साथ भारतीय दर्शन और समाज से जुडा मिलता है उस समय वह बोलियों के साहित्य के निकट था। नगरीय सभ्यता के साथ उसपर अग्रेजी साहित्य का ऐसा प्रभाव पडा कि आज वह उसका अनुगामी हो गया। हमारी भावात्मक शब्दावली प्रकृति चित्रण मुहावर बोलचाल तक की भाषा पर अग्रेजी का वचस्व छा गया। बगाली, मराठी मलयाली आदि इतर भाषाइ साहित्य अपनी अपनी रीति नीति परपरा वाले सस्कार, विधि निषेध आदि स जुडे रहे। आगे हिन्दुस्तानी भाषा का जो असतुलित गठन हुआ उसने हिन्दी की मौलिकता को नष्ट कर दिया। स्वतत्रता के बाद स आज तक तो हि दी का भारतीय रूप और सस्कार सवथा नष्ट हो गए हैं। यह आश्चयजनक बात नहा है कि ससार की सवश्रेष्ठ कहानिया क सपादक ने अपन सग्रह मे भारत की प्रतिनिधि कहानी नल दमयन्ती चुनी है। हमारी प्राचीन कहानियो म जहा देश का सुख-दुख आशा निराशा आदि मिलती है और मानव को श्रेष्ठ व्यक्तित्व बनाने का आह्वान है क्या आज हमारी कहानिया वह द पा रही है? मने भारतीय लोककथाओ को लगभग १०० चुनकर उनको नया परिधान पहनाया, उनको किसी प्रदेश म वहा की सस्कृति भूगोल समाज और मानवीय गुणो स जोडा और उनको सभी ने पसन्द किया। व अपने युग की मान्यता सजोए हुए मिलती हैं जिनका कि आज की कहानी मे सवथा अभाव सा है। हिन्दी आज हमारी आकाक्षाओं को पूरी नही कर पा रही है। इसपर हम गभीरता स सोचना है। प्रमचद जी पर इसीलिए हम उनकी कुछ कहानियो को फिर पढना होगा। वे अपने समय के समाज के प्रति जागरूक हैं।

मैंने सन १६२२ ई० से उनकी कहानिया पढनी शुरू की थी। मेरे पिता उस समय सिटी मजिस्ट्रट थ। व एक साहित्यकार और कवि थे। उनका अपना पुस्त कालय था। वे उस समय के पत्रो म लिखत थ। हमारा एक विशाल बगला देहाती क्षेत्र म था। मैं वहा साधारण किसान और कमकर को देखकर उनकी कहानियो स उस जोडता था। गाम जीवन के मानव का कमशील जीवन होता है। उसका निराला व्यक्तित्व भी होता है। वहा की धरती सनातन रूप म फसलें उगाती है। खेत कटत हैं और आग की फसल का क्रम चलता है। बीज नन्हे बचपन स युवा हो प्राण अन्न का भडार भरत हैं। वहा की प्रकृति का ऋतुचक्र भी उनके समान ही कौतुक लाता है। प्रेमचद लगता है कि एक प्राइमरी पाठशाला क अध्यापक के समान क लक बाड पर उस धरती क लोगो का क्रियाकलाप उल्लास सुख दुख

बडी ममता क साथ उनके हृदय की धडकनो की व्याख्या करता है। उस युग के सामन्ती खडहरो के अवशेषो म बची हुई मानवता के प्रति भी उदार मिलता है। वह निम्नमध्यवग की तहो को उभारकर बडी ही महानुभूति क साथ अपनी रचनाओ म उनकी चचा करता है। कभी लगता है कि वह किसी चौपाल मे बठा हुआ कहानी सुना रहा हो और हम हुकारे भर रह हो। मैंने दो साल पूव हिंदी की कालजयी कहानिया का एक सकलन किया तो कहानी की आज की परिभाषा ढूढन म मैं भटक सा गया और उसपर लिखते हुए बार बार सोचता था कि आग कहानी कहा हम ले जा रही है।

गुली डडा बडे घर की बटी सुजान भगत', 'पच परमेश्वर, आत्माराम बटा वाली बुढिया शतरज के खिलाडी' कफन' आदि रचनाओ म जीवन का पूण उभार है। य अपन समय और उसस पूव के समाज की सही व्याख्या करत हैं। सन् १६१४ इ० के महायुद्ध के बाद समाज ने जो नया मोड लिया या सयुक्त परिवार ने अपनी जजर केंचुली उतार फेंकी, उसकी एक नई तसवीर मिलती है उनकी वह चेतना भल ही उर्दू की कहानी की परपरावादी हो, वह उसस हटकर एक नई चेतना का आभास देती है। गाधीजी की भारतीय राजनीति मे तो वे हम रगभूमि के सूरदास क समान गाधीवाद के अधे भक्त मे लगते हैं और जीवन के अतिम समय म हम उनका मोह भग पाते हैं। प्रारभिक रचनाओ म व भारतीय चिंतन की परपरा से अलग थलग रहत हैं और गाधीजी के प्रभाव स मध्यवग और किसान क निकट आकर उस बूझते हैं। फिर भी वे गदर और क्रान्तिकारी आन्दोलनो को छून मे हम सक्षम नही मिलत हैं। एक समाजचेता की यह कमी अखरती है।

प्रेमचद का जन्म वाराणसी के निकट एक मुन्शियाना परिवार म हुआ। यह १८८० का समय है। उस समय भोजपुरी म गदर के सिपाहियो की देशभक्ति के गीत देहातो के घर घर मे गूज रहे थे। १६वी शती क अन्तिम दशक म काग्रेस का जन्म हुआ बगाल म ब्रह्म समाज और महाराष्ट्र म प्राथना समाज के साथ आय समाज भी एक नई सामाजिक चेतना लाया था। वाराणसी मे भारतेन्दु और उनक साथी स्वदेशी भाषा और भेष क भाव म डूब थ, फिर इस राष्ट्रीय तूफान स प्रेमचद अलग क्या रहे हैं? मात्र इसीलिए कि वे शासकीय अधिकारी थे? उस समय बकिमचद्र भी तो शासन के प्रमुख पद पर थे। प्रेमचद को इस भांति दूर रखना उनके उर्दू भाषाई सामन्ती सस्कार थ। व उस समय हिंदी स न जुडकर अग्रेजी स जुडे हुए रह हैं। न उपनिवेशवादियो के यात्रा-वणन निप-

गिग की गाथाए अंग्रेजो के भारत पर लिखे सस्मरण और उनकी हमारे समाज के सबध के विचारो वाली पुस्तको तक सीमित रहे। उनमे वर्णित समाज उनका प्रेरणास्रोत रहा है। हिंदी और इतर भाषाओ का ज्ञान न होने के कारण वे भारतीय चितन की परपराओ से कटे से रह गए। यदि गाधीजी ने उनका हृदय मथन न किया होता तो हम एक सक्षम साहित्यकार न मिलता। गाधीवाद की जमीदार किसान मजदूर मालिक के बीच के भाईचारे का वे इसीलिए अपनी रचनाओ मे पक्ष लेते हैं। वे निरतर लिखते थे। लिखना उनका पेशा हो गया। कलम के सिपाही के समान वे निरतर नियमित रूप से लिखते थे। उस समय हिदी पत्रिकाओ और उर्दू के रिसालो मे उनकी रचनाओ की माग थी। उनकी उर्दू भाषा मजी हुई थी। वे उसमे लिखते और उनके अनुवाद हिंदी मे छपते थे। लोगो मे भ्रम होता था कि वे हिंदी मे लिख रहे हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओ मे हम गोर्की के समान एक विराट भारतीय समाज की तसवीर नही पाते है।

प्रेमचद ने पाश्चात्य से अपनाई गई बगाली गल्प का अध्ययन भी नही किया। वे अपनी ही अरबी फारसी की किस्सागोई तक प्रारभ मे सीमित रहकर आत्मा राम के समान चमत्कार हमारे आगे प्रस्तुत करते हैं। वे समाज के प्रति चेतना शील होने के कारण यदाकदा लोककथा को आधार बना मानव के मान अभिमान ईर्ष्या द्वेष छल कपट घृणा ग्लानि वैर विरोध आदि के साथ मानव को प्रेरणा देते है। हमने प्राचीन काल से सत्य की विजय अनाचार के आगे सिर न झुकाना, अत्याचारी का विरोध किया है। प्रेमचद का सामाजिक कनवास बगाली कथा कारो से समान वृहद न होने पर भी अपने सीमित दायरे और अनुभवो की कसौटी पर उन्होंने एक नया मानदड स्थापित कर हमारे कथा साहित्य को ऐसी राह दी कि आगे का फनकार भटकना भी चाहे फिर अत मे उसी लीक पर चलने के लिए विवश हो जाता है।

हमारी पीढ़ी उनकी आभारी है। हम सदा उनके प्रति नतमस्तक रहेंगे। उन्होंने हमारा सरक्षण का भार लिया और हम सिखा-पढाकर बडे दुलार के साथ साहित्य मे प्रतिष्ठित करने का भार उठाया। उस काल मे सक्षम कथाकार लिख रहे थे। नये लेखको को आगे लाने वाली आज के समान पत्रिकाओ की बाढ भी नही थी। हम जिला स्तर पत्रो तक सीमित थे। तब मैं शौकिया कहानिया माया मे लिखता था। कथा साहित्य का मुखपत्र हस निकला तो मुझे प्रेरणा हुई कि उसमे अपनी रचनाए भेजू और सच ही यह बडा आश्चर्य हुआ कि वे छपी ही नही, उन्होंने तो साहित्यकार गुरु की जिम्मेदारी लेकर हमारा अपने पत्रो के माध्यम से परीक्षण भी शुरू कर दिया। यही नही हम लगभग २० लेखको की चर्चा अपने व्याख्यानों और लेखको के बीच भी करने लगे। उनकी सहृदयता का एक दृष्टात

दूं। मई मास, १९३८ में मेरी कहानी 'एम्बुलेटर' हंस में छपी और जहां वह रचना समाप्त हुई, उसके अगले पृष्ठ पर उनकी 'रियासत के दीवान' श्रेष्ठ रचना छपी है। यह मुझे उत्साहित करने को किया गया था। वे तो पत्रों में निरंतर लिखने को उकसाते थे। अन्य पत्रों में छपी कहानियों के सम्बन्ध में सुझाव देते थे। मैं स्वयं आश्चर्यचकित रह जाता था कि उनको इतना समय कैसे मिल जाता था।

अब मैं अपने को लेखक मानने लगा था और सन् १९३५ ई० में एक कहानी 'अधूरा चित्र' 'माधुरी' में छपने को भेजी। सम्पादक का पत्र मिला कि वह कहानी अंक में छप रही है और उसका सम्पादन प्रेमचंद कर रहे हैं। गढ़वाल जनपद से लौटने पर मैंने नजीबाबाद स्टेशन पर उसकी एक प्रति क्रय की। जब लखनऊ पहुंचा तो कई स्थानों से भटकता हुआ उनका एक पोस्टकार्ड मिला :

'आपकी 'अधूरा चित्र' कहानी अगस्त की 'माधुरी' में देखी और मुग्ध हो गया, सैकड़ों बधाइयां। विषय इतना मनोवैज्ञानिक है और उसे ऊपर से इतनी खूबसूरती से निभाया गया है कि पूरा चित्र करुणा और व्यथित कल्पना के साथ आंखों के सामने खिंच जाता है। अब आप गल्प-लेखकों के पहले सफ में आ गए हैं, बल्कि बहुतों को पीछे छोड़ गए।'

मैंने उनको लिखा कि मेरे तरुण भाई की मृत्यु की छाया उस रचना में है तो उनका तुरंत सहानुभूतिपूर्ण पत्र मिला कि लेखक जब तक पीड़ा का अनुभव नहीं करेगा तो लिखेगा क्या। यही लेखक की सफलता है कि वह मानवीय अनुभूति को सफलता से आगे लाकर विकसित करता है।

वह कहानी के विकास का स्वर्णयुग था। प्रेमचंद नये लेखकों की एक बड़ी कतार आगे ला रहे थे। कथा साहित्य का विकास हो रहा था। हिन्दी कहानी परिपक्व हो रही थी। हम लोगों में भी होड़ लगी थी कि अच्छा लिखें। भय होता था कि प्रेमचंद पढ़ेंगे और कहीं उनको पसन्द न आई तो हम उनकी नजरों में गिर जायेंगे। दिल्ली रेडियो पर उनकी वार्ता थी। वे जैनेन्द्र के यहां टिके थे। मैंने उनसे यह बात कही तो वे ठहाका मारकर हंस पड़े। उनका भाषण भी एक गोष्ठी में सुना और दो दिन में ही लगा कि अरे वे तो बड़े सरल और विनोदप्रिय हैं। इतना गंभीर साहित्य कैसे लिखते होंगे? उस समय उनके पास अंग्रेजी में छपे कई उपन्यास और कहानी संग्रह थे। मैं उनको पढ़ता हुआ ही पाता था। कथाकार प्रेमचंद और मानव प्रेमचंद में मुझे उस समय कोई अन्तर नहीं मिला। कथा-साहित्य पर हम नये लेखकों से बातें करते समय वे अपना नियोजित कार्यक्रम तक बिसार देते थे।

यह बात सच है कि प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों के ढांचे पर परदेश में प्रकाशित साहित्य का बड़ा प्रभाव रहा है। मैं यह बात नहीं मानूंगा कि यह सचेतन हुआ है। कुछ कहानियां अविकल अनुवाद भी लगती हैं। इसका कारण

पर विचार विनिमय होना चाहिए। सस्तुति गाकर नही उनके जुझारूपन और उनकी सही सीमाम्रा का बोध हम होना चाहिए। यह बात भी विचार म लानी होगी कि क्यो प्रेमचद प्रारम्भ म हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव स दूर रहा है। ठाकुर श्रीनाथसिह न जो प्रश्न आज स ५० साल पूव उठाए उनपर नये सिरे से बहस किए बिना सही मूल्याक्न नही हो सकता है। वे उनको घणा का प्रचारक मानत हैं। आखिर वे क्या परिस्थितिया थी कि वहद उपन्यास को समाप्त करने के लिए व अपने पात्रो को मार डालत हैं कि उपन्यास या कथानक समाप्त हो जाए? उनकी बहुचर्चित रचना कफन जिसे हमारे साथी प्रगतिशील क्या कहत हैं मुझे उसका अन्त कृत्रिम सा लगता है। मैं हरिजनो के बहुत निकट रहा हू। व शराब पीत हैं और पिछडे होने के कारण उस समाज में कई बुराइया भी हैं पर पत्नी का कफन का पसा दारू मे उडा देना मुझे मात्र नाटकीय लगता है। हमारा हरिजन समुदाय धमपरायण है और भारतीय सस्कृति की सबल परम्पराम्रा स जुडा है। यह कहानी यदि उनका प्रतीक मान ली जाए तो यह चिन्तनीय होगा। इसी भाति सवा सेर गहूँ म वे एक वग का उपहास उडात हैं। उसे उस वग का नमूना पेश करत हैं। आखिर वे इन वर्गों के प्रति एक हीन भावना के शिकार क्या थे? वे कौन सी सामाजिक परिस्थितिया थी कि जिन्होंने उनको इस प्रकार की कई कहानिया को लिखने के लिए प्रेरित किया?

फिर मुझे उनका विक्टोरियन आदर्शवाद भी समझ म नहीं आता है। वह हमारा देशज नहीं है। हमारी सस्कृति म नारी पूज्य है पर उसम नारी पुरुष के सम्बन्ध म हमे कही भी पौराणिक कथाम्रा म एक थोथा आदर्शवाद नहीं मिलता है। उस साहित्य म भी सामाजिक मान्यताम्रा के प्रति अपनी सबल आस्था रखी है। प्रेमचद के कथानको के अपवादो पर भी हम नये सिरे स मूल्याकन करना है।

अभी हमारा कथा साहित्य पनप ही रहा था कि प्रेमचद चले गए। उसके बाद हमारे साहित्य मे ठहराव आ गया। हमारे बीच कोई सही दिशा और नेतत्व करने वाला व्यक्ति नहा रह गया। जनेन्द्र अपने व्यक्तिवादी मनोविज्ञान का परीक्षण अपनी कथाम्रा म करने तुले और अपनी अहिन्दी भाषा की परिपाटी अग्रेजी के ढाचे को ताड मोडकर उस आधार पर खडी की। अज्ञेय ने अनोखा पथ अपनाया और शिल्प और भाषा से मोहन वाला मायाजाल उभार अपने पात्रो को अपने अहम के भार से इतना दबा दिया कि मानो वे पुतल हो। युद्धकाल आया जिसने हमारे समाज को झकझोर दिया। आजादी के बाद गोरी नौकरशाही की जगह काली नौकरशाही ने ले ली। पहले साहित्यकार प्रथम श्रेणी का नागरिक था अब राजनेता ने उससे वह स्थान छीन लिया। अफसर दूसरे श्रेणी के नागरिक बन गए। बेचारा बुद्धिजीवी यही तलाश करता रह गया कि

उसकी कौन-सा श्रेणी है। कुछ बुद्धिजीवी शासन के दरबारो से जुड गए। ईमानदार मौलिक लेखक का जीना मुश्किल हो गया। पूजीवादी पत्रों के मालिको न शृखला पत्रो की लडी से साहित्य पत्र भी जोड लिए और साहित्यिक पत्र बन्द हो गए। पूजीवादी व्यवस्था न नय रूप मे नागफास से समाज को जकड लिया।

यह एक एसा बिखराव था कि लेखक स्वय अपनी पहचान कर नये-नये नारे देने लगा। दिशा भ्रम के इस दौर म आम आदमी की खोज हुई समसामयिक कहानी की पहचान का सवाल उठा, अकहानी की व्याख्या हुई। लोगो ने प्रेमचद की सामाजिक चेतना पर भी प्रश्नचिह्न लगाए। कथाकार कम आलोचक अधिक उछलकूद मचाने लग। यही नही छोटे छोटे गिरोह बन और एक दूसरे के तारीफ के पुल बाधने लगे। कहानी शिल्प तक रह गई और कुछ एसा लगा कि कई लेखक इटरनेशनल कहानिया लिख रहे हैं। मात्र नाम बदल देने भर से उनका सम्बन्ध किसी देश के साथ स्थापित किया जा सकता है। नागरीय कहानी कमरे म बन्द होकर लिखी गई तो कस्बे की कहानी को दूर से झाककर देखा गया। फिर भी बोलियो के कथाकारो न अपने इलाको के चरित्र और वातावरण उभार-कर ए6 मुग्य रूप म मध्यप्रदेश और राजस्थान ने भाषा की जातीय कथानको म मात्र मुझे प्रेमचद झाकता हुआ मिला। लगा कि अब उसका युग आ गया और यही हिन्दी की कथागगा मे नय प्राण सचारित करेगा।

मैंने यह अनुभव भी किया कि कहानी की भाषा से भारतीय सस्कार एक-दम लोप हो गए और व विचारो और सामाजिक मान्यताओ म अग्रेजी कथा साहित्य क पूर्ण अनुयायी होन के कारण हिन्दी भारतीय नही रह गई। मैं गढ़-वाली बोली के इलाके का लखक हू। मेरी सदा यह मान्यता रही है कि जब भी मैंने वहा क बारे मे लिखा तो मेरी रचनाओ मे एक प्रवाह आया और मेरे दिमाग से अग्रेजी का कुहासा हट गया। इसीलिए मैंने अपने जनपद की कहानियो का सग्रह इद्रधनुष छपवाया। मैंने आज तक अपनी किताबें कहीं इनाम पाने के लिए नहीं भेजी। मुझे उसपर विश्वास नहीं है। मेरे प्रकाशक ने समझा कि मैं बडा लेखक हू उन्होने मुझसे पूछे बिना ही वह पुस्तक भेज दी। एक मित्र ने बताया कि हिन्दी के दो प्रोफेसरो का मत था कि मैं कहानी लिखना तक नहीं जानता। पुस्तक निम्नकोटि की मानी गई। जबकि मेरे मित्र पातर बारानोकोफ इलाहा-बाद आए तो उन्होने बताया कि व मेरी श्रेष्ठ कहानिया हैं। आज कथा-साहित्य पर हमारे कुछ विद्वानो का क्या मत है वह इससे जाना जा सकता है। तभी मुझे लगा हिन्दी साहित्य ही नहीं, भाषा म गहरा सकट आ गया है। ४८ साल हिन्दी म कहानी लिखने के बाद आज मैं गढ़वाली भाषा मे कहानी लिख रहा हू। मेरे जनपद के मासिक हिमालय में मेरी कहानी छपी तो मेरे पास पाठको के

पत्र आ रहे हैं। मुझे अनायास याद हो आया कि सन् १९३६-३७ में जब मेरी कहानी छपती थी तो पाठक मुझे पत्र लिखता था। मुझे गढ़वाली में लिखने में पात्र [illegible] नहीं होते हैं और कथानक एवं वातावरण चरित्र स्वयं उभरता है। मैं अपने भाषाई साहित्यकारों से अनुरोध करूँगा कि यदि वे प्रेमचंद की परम्परा को जीवित रखना चाहते हैं तो अपनी मातृभाषा में लिखें और उनका अनुवाद हिन्दी में छपवाएं। हमारा दायित्व है कि हम कथा-साहित्य को आगे बढ़ाएँ।

मेरे साहित्यिक जनक स्वर्गीय श्री प्रेमचंद

● वीरेन्द्रकुमार जैन

श्री प्रेमचन्द का पहला पत्र, एक पोस्टकार्ड, मेरे पास १८ दिसम्बर, १९३४ का है। इसमें उन्होंने मेरी कहानी 'कवि हृदय' के मिलने की सूचना और 'हंस' में उसे शीघ्र छापने की स्वीकृति ढाई-तीन पंक्ति में लिखी है। यह कार्ड बम्बई से लिखा हुआ है, जहां मैं प्रथम बार उनसे मिला था और तभी मेरी कहानियों की कापी-बुक उन्होंने मुझसे लेकर कुछ कहानियां पढ़ी थीं और उनमें से उक्त कहानी चुनकर, उसे 'हंस' में छापना स्वीकार किया था।

इससे पूर्व की एक घटना मेरे जीवन में ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण है। यह बात सन् १९३३ के अन्त या सन् १९३४ के आरम्भ की होनी चाहिए। प्रेमचन्द जी तब एक साप्ताहिक निकाला था 'जागरण'। उसके मुखपृष्ठ पर हमेशा एक कविता छापा करते थे। मैंने भी उन्हें अपनी एक प्रारम्भिक कविता सदय भेज दी थी। आशा नहीं की थी कि मेरी कविता छपेगी। एक दिन अचानक 'जागरण' का एक अंक मेरे पास आया। उसके मुखपृष्ठ (पीले आवरण) पर केवल मेरी ही वह एक छोटी कविता छपी हुई थी, जो मैंने उन्हें महज लाटरी टिकट की तरह भेज दी थी। देखकर मेरे आनन्द आश्चर्य की सीमा न रही। मुझ नितान्त किशोर और अज्ञात कवि की कविता उन्होंने 'जागरण' के मुखपृष्ठ पर छाप दी। हिन्दी संसार के सामने उस दिन उन्होंने एक नया काव्य हस्ताक्षर पटक दिया। हिन्दी साहित्य में छपने वाली वही मेरी पहली रचना थी। इसी कारण मैं पूज्य बाबूजी (प्रेमचन्दजी) को अपना साहित्यिक जनक मानता हूं। उन्होंने मेरे अज्ञात अकिंचन किशोर कवि के नाम को उस दिन हिन्दी साहित्य के शिलापट्ट पर आंक दिया। इस घटना का स्मरण आज भी मेरी आंखों में आंसू ला देता है।

इसके बाद सन् १९३४ में ही संयोगवश से मेरा उनसे मिलन बम्बई में हुआ। बम्बई में मेरी ननिहाल की गद्दी (आढ़त की दुकान) सौ वर्ष से थी। सो बम्बई बचपन से ही हमारा दूसरा घर रह आया था। उस बंगाली के लिए

कलकत्ता वस हो हम मालवी लोगो के लिए बम्बई था। खास कर हमारे परिवार के लिए। गर्मी की छुट्टियां म या प्रसंग विशेष पर बचपन स ही जब-तब बम्बई आना रहना होता रहता था।

सन १९३४ म मैं इन्दौर के होल्कर कालेज म इन्टरमीडिएट के दूसरे साल म था। कविताए लिखने लगा था जो कालेज मैगजीन म छपती थी। जागरण म छपी कविता हिन्दी साहित्य म मेरा पहला प्रकाशन था। उसके द्वारा प्रेमचद ने मुझे प्रथम बार मे ही साहित्य की अगली कतार म जन्म द दिया था।

सन १९३४ म बम्बई मे काग्रेस का शायद ४८वा अधिवेशन था। मैं काग्रेस देखने बम्बई आया था। उधर खण्डवा म प० माखनलाल चतुर्वेदी भी उस अवसर पर बम्बई आए थे। इन्दौर स मेरे अग्रज काव्य-सखा किशोर प्रभाकर माचवे भी दादागुरु माखनलालजी के साथ बम्बई आए थे। दादा (माखनलाल चतुर्वेदी) हम मध्य भारत (सण्ट्रल इण्डिया) और मध्य प्रान्त (सण्ट्रल प्राविंस) के उगते कवियो के काव्य गुरु थ। हम सब उनके काव्य बालक थे। सी० पी० स प्रमुख थे—भवानी मिश्र भवानी तिवारी रामानुज लाल श्रीवास्तव आदि। मध्य भारत म मैं माचवे प्रभागचन्द्र शर्मा और मुक्तिबोध भी दादागुरु स जुडे हुए थे। दादा प्राय अपनी विशिष्ट यात्राओ म दो-तीन युवा-कवियो को ले जाया करते थे। उस बार माचवे को व अपने साथ बम्बई काग्रेस म लाए थे। मैं पहले स ही बम्बई म था। ठीक याद है दादा कालबादेवी म बच्छराज एण्ड कम्पनी (बजाजा की गद्दी) म ठहरे हुए थे। हमारा घर पास ही भोलेश्वर म था। सो हम सबका जमावडा दादा के आसपास होता रहता। कमल नयन बजाज भी उसम हुआ करते थे।

प्रेमचद तब बम्बई म सेवा सदन पर बाजारे हुस्न फिल्म लिखने को रह रह थे। वे दादर के एक मकान के दुमजिले म रहते थे जिनका नाम 'सरस्वती सदन' था। अब भी यदाकदा वहा स गुजरते हुए वह मकान देख प्रेमचद की याद स मन भीना हो जाता है। मैं और माचवे दादागुरु के साथ प्रेमचद से मिलने एक शाम उनके घर गए थे। वहा मेरा उनका प्रथम दर्शन था। (सन १९३४—जिस महीने उक्त ४८वी काग्रेस हुई थी महीना याद नही) प्रेमचद और माखनलालजी की उस मुलाकात और बातचीत का मैं साक्षी रहा यह भुलाया नही जा सकता। वह हिन्दी का एक एतिहासिक क्षण था। १९ या २० वर्ष का था मैं शायद। मगर उस बातचीत का एक बहुत प्राजल और स्पष्ट 'इम्पक्ट' मेरे दिमाग पर हुआ था जो आज भी याद है। दादागुरु (मा० ला० च०) कवि थे। वे भाषण भी कविता मे देते थे बातचीत भी कविता मे करते थे। वे एक करिश्मई और जादूगर किस्म के कन्वरसेशनालिस्ट थे। प्रेमचद के साथ सम्वाद म भी उनकी वही पैनी तराश थी बारीक ख्याली थी, घुमाव फिरावदार, पचदार

कसीदेकारी थी। दूसरा और प्रेमचद बहुत डाइरेक्ट तथ्यात्मक सीधे-सादे ढग से बात कर रहे थे। कोई बारीकबीनी या कसीदकारी फल-बूटकारी नहीं। मुझे और माचवे को लगा था कि हमारे दादागुरु की प्रतिभा ज्यादा तजस्वी और सूक्ष्म है। मगर प्रमचद का सादगी और सचाई का एक अलग ही असर मेरे दिल पर हुए बिना न रह सका। घुमाव फिराव नहीं, कपट नहीं बुनावट नहीं, तह दिल से आ रही सीधी-सच्ची बात। वहा से उठकर जब चले, तो सीढी उतरते हुए दादागुरु ने हम दोनों से कहा था 'हिन्दी की दो प्रतिभाओं का अन्तर तुम दोनों ने देखा न?' हम लोग अपने दादा की बारीकबीनी की दाद देते रहे। यह उल्लेखनीय है कि उस दिन माखनलालजी ने मेरा और माचवे का कोई परिचय प्रेमचन्द से नहीं कराया था।

इसके बाद एक शाम काग्रेस के खुले सत्र में मैं और माचवे इकट्ठा बैठे थे, तभी प्रमचद हमारे पास से गुजरे। हमने उठकर उनके पैर छू लिए। स्वयम् ही परिचय दिया अपना और हवाला भी कि दादा के साथ उनके दर्शन करने हम दोनों आए थे। उन्हें वह याद था। वे हमारे लेखन आदि के बारे में भी बडी दिलचस्पी से पूछते रहे। फिर बोले पास बैठे कुछ लडके मूगफली खाते और मजा रहे थे—बोर हो गया तो चल पडा मैं। इस सादगी पे कौन न मर जाय ऐ खुदा।

मैं प्रमचद की सादगी से प्रभावित हुआ। मैंने माचवे से कहा 'मैं उनसे अवश्य मिलने जाऊंगा।' माचवे बोले, 'क्या तुम सोचते हो, प्रेमचदजी तुम्हारी कहानियां पढेंगे?" मैंने कहा, 'पता नहीं मेरी कविता उन्होंने जागरण के मुख पृष्ठ पर छापी थी। शायद ' माचवे मेरी भावुकता पर हसते रहे। काग्रेस खतम हुई व दादा के साथ इन्दौर लौट गए।

मैं बम्बई में ही अपनी ननिहाल में टिका रहा। दिल में धुन थी कि प्रेमचद से मिलना तो है ही। डर भी था, क्या हस्ती मेरी और अभी तो साहित्य में ककहरा लिख रहा था। मगर सपना था, अरमान था पूरा होकर रहा। बम्बई में नीच नाम का एक हिन्दी नाटक मचित हो रहा था। मेरे मित्र भानुकुमार जैन ने कहा 'प्रेमचद के यहा जाकर पास दे आओ, और साग्रह निमत्रण भी कि वे और शिवरानीजी अवश्य पधारें।'

उसी रात ९ बजे से नाटक था। और शाम के ६ ७ बजे मैं पास लेकर प्रेमचन्दजी के यहां पहुचा। लकदक कपडे, कमीदकारी वाला रंगीन कुरता पाजामा कश्मीरी कामदार टोपी। बड-बडे छल्लेदार जुल्फ। खादी के धोती कुरते वाले महान प्रमचद के पास इन कपडो में जाने में बडी हठी और हलकापन अनुभव हुआ मुझे। शर्म-सी आई। स्वर बडे हिजाब में डूबा सकुचा-सहमा पहुचा। महान प्रेमचद ने मुझ अदना लडके को पहचान लिया। आज के हिन्दी अदीबो की तरह

कोई स्नॉवरी न बरती।

पास दिया। नाटक म जाना तो उनका मुमकिन न था। मेरे लिए भी वह एक बहाना मात्र था। टल गया। अब तो मैं उनके मुकाबिल था। मैं अपनी कहानियों की एक बडी कलात्मक रेखाचित्रों से अंकित नोट बुक ले गया था। सकोचवश रूमाल म कश्मीरी टोपी और कहानी का नोट-बुक नीचे से ही लपेट-कर ले गया था और कुर्सी के पास नीचे फर्श पर ही उसे रख लिया था।

मगर प्रेमचद ने खुद ही तलब किया, 'कुछ लिखते हो ?' मैंने 'जागरण' वाली कविता का हवाला दिया। वे पहचाने और बहुत खुश हो गए। मैंने शरमाते हुए कहा कि कहानियाँ भी लिखता हू। बोले 'अरे बहुत अच्छा, लाए हो साथ अपनी कोई कहानी ?' मैंने नोट बुक उन्हें थमा दी बोले 'बडे कलाकार युवक हो और बडा खुशखत लिखते हो।' उन्होंने मेरे लेखन म गहरा रस लिया। फिर बोले कि अपनी पसद की एक श्रेष्ठ कहानी उन्हें बता दू तो वे पढेंगे। मैंने मामी नामक एक लम्बी कहानी पढने का अनुरोध उनसे किया। बोले "चार पाच दिन बाद शाम के वक्त आना पढकर बताऊगा। मैं बहुत खुश घर लौटा। अगली बार मिला तो बोले कि 'मामी' कहानी बहुत भावुक हो गई है। उसमें मामी का टी०बी० होने की जमीन पुख्ता नहीं है। यह भी कहा 'तुम प्रसाद की तरह सुकुमार सूक्तियों के लेखक हो।you are Lyrical' फिर कहा 'और एक कहानी अपनी पसद की सुझाओ। मैंने एक कहानी 'रहस्यमयी' सुझाई। और कुछ खिन्न, निटिकल मूड मे लौटा। फिर जब मिला तो वे गदगद थे। बोले कि 'यह कहानी रहस्यमयी तुम्हारी उम्र से अधिक परिपक्व अनुभूति की है। क्या यह सचमुच तुम्हारी कहानी है? कथानक भी तुम्हारा ही है?' मैंने कहा 'हा अपने ही एक अनुभव के आधार पर यह लिखा है।' प्रेमचद बोले 'तुमने हचबैक आफ नात्रेदम पढा है?' मैंने कहा 'नहीं पढा है' अब जरूर पढना चाहूगा।' वे बोले कि 'तुम्हारी रहस्यमयी उसी कुबडे की याद दिलाती है। एक कुरूप व्यक्ति को प्यार करने की एक युवती की विवशता और उसकी कुरूपता के प्रति उसकी ग्लानि और विरक्ति का द्वद्व। तुमने भी ऐसा ही द्वद्व इस कहानी म कमाल का चित्रित किया है।

मैं स्तब्ध रह गया। हमारे युग के कथा सम्राट प्रेमचद ने मुझ गुमनाम लडके की कहानी को ऐसी भव्य स्वीकृति दी!

उन्होंने फिर इस कहानी को कवि हृदय के नाम से हस मे शीघ्र ही छापा। सन '३५ के जुलाई या अगस्त के हस म शायद मेरी यह कहानी छपी—अनुमान है। तब मैं बी० ए० प्रथम वर्ष म होल्कर कालेज इन्दौर म था। उनके बाद मैंने उन्हें एक गुजराती लडकी का सस्मरणात्मक प्रेम कहानी भेजी थी जिसका हवाला साथ के पत्रों म है। वह उन्हें बहुत भावुक लगी सो न छापी। और एक कहानी

मगाई, बन्कि आग्रह से। मुन्गाग चुनडी के आंचल में एक लम्बी कहानी मैंने भेजी (जो बाद को मेरे प्रथम कहानी संग्रह 'आरम-परिणय' म पहली कहानी हुई), उस प्रेमचन्द ने पसन्द किया और एक पैरा उसमें अपनी ओर से जोडकर, वह कहानी भी उन्होंने शायद सन '३५ म ही 'हंस' मे छाप दी।

उधर इन्दौर की वीणा' पत्रिका म भी दो लम्बी कहानिया छपी 'वह पत्थर और 'मा कि प्रणयिनी ?' य दोनो कहानिया भी बहुत मशहूर हुइ। कई सरनाम लेखकों के पत्र इन कहानियों पर मुझे और वीणा' सपादक श्री कालिका-प्रसाद दीक्षित कुसुमाकर को मिले।

बम्बई म प्रेमचद से दो-तीन नामों की मुलाकात की दो-तीन बातें मुझे याद रह गइ। वे मेरे दिल पर अब भी नक्श हैं। एक तो शिवरानीदेवी के रूप म एक भारतीय नारी (पत्नी) की आदर्श मूर्ति एक अत्यन्त पतिनिष्ठ, पति-गर्वी, काल पाड़ की सफेद साड़ी में गज्ज स्वच्छ सादा विनम्र व्यक्तित्व। माथे पर कुकुम मुंह म रचा पान। एक प्रौढ़ा, मातृ-स्वरूपा। वे बीच-बीच म आकर पान की तश्तरी रख जाया करती थीं। प्रेमचद ने बड़े प्यार से मेरा परिचय उनसे कराया था और मेरी कमसिन प्रतिभा की तारीफ भी की थी।

यह भी याद रहा कि एक दिन लालचद फलक मेरी मौजूदगी म ही प्रेमचद से मिलने आए थे। उन दोनों के बीच खालिस उर्दू अंदाज में जो गुफ्त-गू होती रही, उसकी लज्जत आज भी मेरे दिल म ताजा है।

सबसे स्मरणीय है—प्रसगवशात प्रेमचद की मुझसे कही दो बातें। एक फिक्रा बात के दौरान वे यह बोल थे इस फिल्मी दुनिया से अब मैं आजिज आ गया हूं। तवायफ या रण्डी से भी शायद इतनी तल्खियां नहीं होतीं जितनी फिल्मी दुनिया म लेखक से होती हैं। तवायफ आपकी तलबी को ठुकराने को आजाद है, मगर लेखक बेचारा कैसे ठुकरा सकता है! और उस खून रगडा जाता है। उसका कोई पुरसान हाल नहीं। फिर अंतिम मुलाकात म उन्होंने यह भी कहा था अब यहां जी नहीं लगता। बनारस की अपनी बैठक और चौकी याद आती है। उसके कुछ वक्त बाद ही शायद वे बनारस लौट गए।

इसके बाद मैं इन्दौर लौट गया था। फिर उनके दर्शन कभी न हो सके। क्योंकि सन ३६ म तो वे इन्तकाल ही कर गए। उस बीच उनसे प्राप्त तीन पत्र मेरे पास हैं।

अपने देह-त्याग की पूर्व सन्ध्या म उन्होंने एक लेख अंग्रेजी म लिखा था Whose is the future in Hindi Literature ऐसा ही कुछ। इसमें उन्होंने थोड़े म अपने तमाम समकालीन हिन्दी साहित्य ससार का जायजा लिया था। श्रद्धेय बनारसीदास चतुर्वेदी के अनुरोध पर प्रेमचद ने यह पत्र या लेख लिखा था जो अंग्रेजी के कई प्रमुख दैनिकों म एकसाथ छपा था। यह महान प्रेमचद

अपने समकालीनों पर एक बड़ी सटीक दस्तावेज है। अपने वक्त के हिन्दी रचना धारा पर एक verdict ।

मेरी कुल छ कहानियां पढ़कर प्रेमचंद ने हंस में मेरे विषय में लिखा था—कहानी-क्षेत्र का जायजा लेते हुए In the field of short story Jainendra stands Pre-eminent and Agyeya Virendra kumar jain and Satyajivan varma (अज्ञेय, वीरेन्द्रकुमार जैन तथा सत्यजीवन वर्मा) are the most out-standing'

एक बार बम्बई से लौटते हुए खण्डवा उतरकर दादागुरु माखनलालजी से मिलने गया, तो उन्होंने बड़े प्यार से खबर दी, 'बेटा हिन्दी कथा के युग विधाता प्रेमचंद ने तुम्हें बहुत ऊंचा आंका है। तुमने पढ़ा नहीं?' मैंने नहीं पढ़ा था। मुझे कटिंग दिखाई गई। मैं स्तब्ध रोमांचित, सन्न रह गया। I woke up one morning and I found I was famous'—यह कहावत मेरे जीवन में उस दिन चरितार्थ हुई। प्रेमचंद के इस वाक्य ने उस अल्प वय में ही मुझे हिन्दी लेखकों की अगली कतार में खड़ा कर दिया था। सच ही वे हिन्दी के आत्मा थे, हिन्दी के एक महान भाग्य विधाता भविष्य द्रष्टा और नियति पुरुष थे। मेरा उदाहरण इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है।

इसीसे आज भी यह कहते हुए मेरा मन अपार कृतज्ञता से भर आता है कि हिन्दी में प्रेमचंद ही मेरे आदि साहित्यिक जनक थे।

उनके अवसान की खबर से बहुत दिनों तक ऐसा लगता रहा, जैसे मैं साहित्य में बहुत अनाथ छूट गया हूं।

प्रेमचदजी की अनन्त स्मृतियो के कुछ क्षण

शिवपूजन सहाय

विराट हिंदी ससार के घर घर म प्रेमचद का प्रवश हो चला था। यह सौभाग्य किसी आधुनिक लखक को प्राप्त नही है। पद्य जगत मे मैथिलीशरण और गद्य जगत म प्रेमचद, दोनो पर हिन्दी-जगत मे तुलसीदास की लोकप्रियता की सघन छाया पडी है।

प्रेमचदजी म मैं गत बारह बरसो स परिचित था। बीच के दो-तीन साल तो ऐसे सौभाग्यशाली रहे कि प्रतिदिन उनके दशन और सत्सग का लाभ मिलता रहा। नित्य एक दो घण्टा समय उनके 'सरस्वती प्रेस' म बीतता था। साहित्यिक सलाप के अतिरिक्त सामाजिक और राजनीतिक चर्चा भी छिडती थी। एक कोई बात छेड देना काफी था फिर सुनिए उनके धुआधार विचार। जस धारा प्रवाह लिखत थ वसे ही बोलते भी थे—सभा-सोसाइटी मे विशेष न सही, साहित्य-गोष्ठी म खूब। वार्तालाप की वाक्यावली को अट्टहास के विराम-चिह्नो म ओजस्विनी बना देते थे। आज भी वह उन्मुक्त हसी कानो में गूज रही है। काहे को अब वसा कोई मस्तमौला पदा होगा! ना!

जब मैं 'मतवाला मण्डल' से माधुरी के सम्पादकीय विभाग म गया श्री दुलारेलालजी भागव न कृपापूवक पत्रिका के अतिरिक्त कुछ पुस्तको के सशोधन का काम भी दिया। पहले 'एशिया म प्रभात' और 'भवभूति' की कापिया मिली। सौभाग्यवश भागवजी मेरी सवा से सतुष्ट हुए और मुझे प्रेमचदजी का सुप्रसिद्ध उपन्यास 'रगभूमि' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई जो पहले से भागवजी के पास आ चुकी थी।

मैं सहम गया। सप्तसरोज सेवा-सदन और प्रेमाश्रम कलकत्ता मे पढ चुका था—साहित्य-जगत मे उनकी जो स्तुति चर्चा होती रहती थी, उसकी भी धाक मेरे दिल पर काफी थी। मैं उनकी कृतियो और कीर्ति कथाओं स तो परिचित था पर उनके दशन स वचित! मैंने यह भी सुना था कि वह पहले उदू म कहानी या उपन्यास लिख जाते हैं फिर किसी हिन्दी के जानकार स

नागराक्षरों में लिखवाते हैं। पर जब 'रंगभूमि' की कापी मिली, मेरे आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। सारी कापी प्रेमचन्दजी की ही लिखी हुई थी। दो मोटी जिल्दों में लाया एक बड़ा पोथा छोटे छोटे अक्षर, घनी लिखावट, कहीं काट छाँट नहीं मानो पूरी पुस्तक एक साँस में लिखी गई हो।

भार्गवजी की गंगा-पुस्तक माला की पुस्तकों का सम्पादन जिन नियमों के अनुसार होता है उन नियमों को मैं जान चुका था, क्योंकि भार्गवजी के सम्पादकत्व के कारण 'माधुरी' में भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता था। जब मैं रंगभूमि की कापी पढ़ने लगा नियमों का ध्यान छूट गया। मन रीझकर भाषा की बहार लूटने लगा। पन्नों पर पन्ने उलट जाने के बाद अकस्मात् उत्तरदायित्व का भान होता फिर पीछे लौटकर नियमों की पाबन्दी करनी पड़ती। कुछ हिन्दी शब्दों की लिखावट में भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग में भी। वाक्यावली और वर्णनशैली तो गंगा की धारा सी स्वच्छ और सवेग थी। बस नियमों के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पड़े कुछ मात्राएँ इधर उधर हुईं कुछ प्रसंगानुकूल यथोचित शब्द बदल दिए गए। प्रेस कापी तैयार हो गई। भार्गवजी ने दस्तखत कर दिया। छपाई के काम में हाथ लगा।

उसी समय प्रेमचन्दजी का शुभागमन हुआ। प्रथम दर्शन में ही मेरे चित्त पर उनके हृदय की महत्ता की सत्ता स्थापित हो गई। खास तौर से उनकी सुविधा के लिए लाटूश रोड में एक नया मकान लिया गया था। उसीमें मैथिलीशरणजी गुप्त भी लगभग एक डेढ़ मास ठहरे थे—किसी वयोवृद्ध कुटुम्बी की चिकित्सा करा रहे थे। माधुरी का सम्पादन विभाग भी अमीनाबाद-पार्क के गंगा-पुस्तक माला कार्यालय से उठकर उसी मकान में चला गया। वह अमीनाबाद से थोड़ी ही दूर था। रास्ते में भार्गवजी का मकान पड़ता था और पण्डित बदरीनाथ भट्ट का भी। उन दिनों पण्डित कृष्णबिहारी मिश्रजी भी माधुरी के सम्पादकीय विभाग में थे। प्रेमचंदजी, मिश्रजी और भट्टजी का जब समागम होता था हँसी के फव्वारे आकाश चूमने लगते थे। मिश्रजी की दर्दसी हँसी सामने की मेज पर ही उछलती थी और प्रेमचंदजी का ठहाका ऊँची छत से टकराकर खिड़कियों की राह सड़क पर निकल जाता था—भट्टजी की हँसी उन्हें पकड़ न पाती थी। दिल खोलकर हँसते थे। आज वह हँसी कितने ही दिमागों में गूँज रही है—बेचैन किए डालती है। उनकी स्मितपूर्वाभिभाषिणी मुख मुद्रा उनका अकस्मात् अट्टहास—ये दो जो कभी आँखों और कानों में औत्सुक्य और उल्लास भर देते थे अब उद्वेगजनक हो रहे हैं।

कितनी ही सन्ध्याएँ अमीनाबाद पार्क मे हरी घास पर बैठे बीतीं—पार्क के एक कोने में उस कचालू रसीले वाले की दुकान पर जहाँ ताल्लुकदारों और

र्ना की मोटरें भी खडी होती हैं, दही-बडे और मटर की कितनी ही दावतें हुई— रंगभूमि में सूरदास का स्वांग रचने वाले प्रकृत व्यक्ति की सच्ची कहानियों पर कितने ही कहकहे उडे—जितने दिन लखनऊ में रहे बडे सुखावह दिन बीते। जब कभी 'माधुरी' सम्पादक पाण्डेयजी (पण्डित रूपनारायणजी) और प्रोफेसर दयाशंकर दुबे—जो उन दिनों लखनऊ विश्वविद्यालय में थे—पहुँच जाते प्रेमचंदजी की हँसी से खासी टक्कर लेते, और एक बार तो कविवर गुप्तजी के सम्पर्क से मुन्शी अजमेरीजी भी पहुँच गए, फिर तो तरह-तरह की हँसी हँसकर प्रेमचंदजी के अट्टहास का दम तोड दिया। पण्डित कृष्णबिहारीजी यह पूछे बिना रह न सके, 'आज दोनों मुन्शी हँसी के दंगल में भिडे, आखिर कौन चित हुआ? प्रेमचंदजी नुमाइशी हँसी हँसते हुए पहले ही बोल उठे, मैं पीठ के बल नहीं, मुँह के बल गिरा। इसपर खूब कहकहा मचा।

'रंगभूमि' के विषय में और भी कई बातें कहने की हैं, पर इस प्रकरण में उनके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं।

लखनऊ के दंगे के बाद मैं पुनः 'मतवाला मण्डल' में आ गया। कभी कभी चिट्ठी-पत्री होती रही, विशेषतः उस समय जब वणिक प्रेस और हिंदी पुस्तक एजेन्सी के मासिक 'उपन्यास तरंग' का मैं सम्पादन करने लगा। मेरे छोटे से संग्रह में उनकी बहुत-सी चिट्ठियाँ हैं, पर इस समय उनका संकलन करना असम्भव है।

चिट्ठियों का तांता उस समय खूब बँधा जब वह 'माधुरी' के सम्पादक थे और बनारस में उनके सरस्वती प्रेस का प्रबन्ध भार ग्रहण करने के लिए श्री प्रवासीलाल वर्मा मालवीय के निमित्त मैं पत्र व्यवहार कर रहा था। उस समय मैं भी काशी में ही रहकर लहरियासराय (बिहार) के पुस्तक भण्डार का साहित्यिक कार्य सम्पादन कर रहा था और कई पुस्तकें सरस्वती प्रेस में ही छपती थीं। उन दिनों श्री गुरुराम विश्वकर्मा विशारद—जो प्रेमचंदजी के गांव के पडोसी हैं और उनको भैया कहा करते थे—प्रेस के प्रबन्धक थे और जो वर्माजी के हट जाने के बाद पुनः उसी स्थान पर वर्तमान हैं।

लखनऊ पर जाने के पहले प्रेमचंदजी जब तक घर पर रहे नित्य इक्के से प्रेस में आया करते थे। मैं भी भण्डार की पुस्तकों की देख रेख के लिए प्रायः नित्य ही प्रेस में जाता था। कम्पनी बाग (मैकडानल-पार्क) के पूरबी छोर पर काशी-नागरी प्रचारिणी सभा है और पच्छिमी छोर पर सडक के किनारे सरस्वती प्रेस था। पुराना मकान अंधेरा सा था कभी रहा होगा भी प्रेस को। रात ही प्रेस की फिक्र में परेशान रहते थे। मेरे हाथ में भण्डार का जो काम था उसमें से जितना उनका प्रेस गर्हा दाम में कर सकता था, उतना तो मैं दे ही

देता था और भी परिचितो से काम दिलवाता था। किन्तु प्रेस और हाथी का पेट दोनों बराबर। पोसाता न था। चिन्ताचक्र चल ही रहा था कि लखनऊ चल गए। तब प्रवासी लालजी की बात छिड़ी। मैं भी बीच में पड़ा। लिखा पढ़ी होते होते बात तय हो गई।

वर्माजी प्रेस को मध्यमेश्वर से उठाकर मृत्युञ्जय महादेव रोड पर ले गए। स्वनामधन्य कलाविद श्री राय कृष्णदासजी का एक नया मकान था। वह प्रेस के लिए बड़ा शुभ एवं लाभप्रद सिद्ध हुआ। कम से कम प्रेस की ओर से प्रेमचन्दजी निश्चिन्त हो गए। वर्माजी के काम से सन्तुष्ट भी रहे। एक सुयोग्य मनुष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कराने में सहायक होने के कारण मुझपर भी अत्यधिक स्नेह रखते थे। यदि लखनऊ से कभी एक दिन के लिए भी आते तो तुरन्त प्रेस का आदमी मुझे बुलाने पहुंच जाता। एक बार तो वर्माजी की नियुक्ति के समय लखनऊ से सीधे मेरे मकान पर ही आ धमके। उस समय मैं काल भैरव की चौमुहानी पर रहता था और वर्माजी भी मेरे पड़ोसी ही थे। प्रेमचंदजी ने किसी प्रकार का सन्देह या असमंजस नहीं प्रकट किया, खुले दिल से वर्माजी को अपनाया। जाते समय बनारसी पान का चौघड़ा मुंह में लेते हुए कहने लगे 'आज सुख की नींद सोऊंगा, बड़ा भारी बोझ उतर गया, प्रेस बला हो गया था।'

जब वह लखनऊ में ही थे तब हंस निकालने का आयोजन होने लगा। हंस की जन्म-कथा यहां अप्रासंगिक होगी अतएव इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य जगत् के यशोधन कलाकार श्री जयशंकरप्रसादजी ने 'हंस' का नामकरण किया और प्रेमचंदजी की स्वीकृति लेकर वर्माजी ने उसके प्रकाशन का श्रीगणेश कर दिया। प्रेमचंदजी लखनऊ से ही कहानियां और टिप्पणियां भेजा करते थे। किन्तु प्रसादजी की योजना के अनुसार हंस में केवल दो ही स्तम्भ रह सके—'मुक्ता मञ्जूषा' और 'नीर क्षीर विवेक'। प्रसादजी की स्कीम में कहानियों की प्रधानता नहीं थी पर प्रेमचंदजी के सम्पादकत्व में तो कहानियों की ही प्रधानता हो सकती थी अतएव 'हंस' बहुत दिनों तक कथा साहित्य का मुख पत्र रहा। 'हंस' के साथ एक इतिहास लगा है।

बीच में एक डेढ़ साल मैं काशी से बाहर रहा यद्यपि आना जाना का सम्बन्ध बना रहा। उस अवधि में 'गंगा' मासिक पत्रिका का सम्पादक रहा। जब कहानी के लिए प्रेमचंदजी को पत्र लिखा स्पष्ट उत्तर मिला कि आप मेरे 'हंस' के लिए मुफ्त लिखा करते हैं इसलिए मैं राजा की पत्रिका के निमित्त मुफ्त नहीं लिखूंगा काफी पुरस्कार दिलवाइए। मैं परिस्थिति देखकर चुप रह गया, क्योंकि जब मैं 'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में था तब प्रेमचंदजी को पीछे चार रुपये के हिसाब से पुरस्कार दिया जाता था। उतना पुरस्कार देकर उनकी

कहानी लेना 'गंगा' ने पसन्द न किया—यद्यपि 'भारत भारती' की समालोचना लिखने पर प्रोफेसर रामदास गौड को फी पेज पांच रुपये के हिसाब से पुरस्कार दिया गया था।

'गंगा' का सम्पादन कार्य छोडकर मैं फिर काशी चला आया। तब तक प्रेमचन्दजी भी 'माधुरी' को छोडकर काशी आ गए थे। इस बार उन्होंने 'मुक्ता मंजूषा' का भार मुझे सौंपा और यथाशक्ति पुरस्कार देना भी स्वीकृत किया, क्योंकि मैं बेकार था। बेकारी में उनके प्रेस से बडी सहायता मिली—पारिश्रमिक के रूप में ही सही। कभी कभी हँसी में कह भी देते थे 'आप बेकार हैं मैं निराकार हूँ।'

सरस्वती प्रेस में घण्टों बैठकबाजी होती थी। पान की गिलौरियों का दौर चलता रहता था। लखनऊ के विचित्र पान की चर्चा करते हुए खूब हँसा करते थे। यह कहते भी थे 'मेरा यह तकिया-कलाम तो उर्दू साहित्य गोष्ठी का प्रसाद है। गनीमत है कि बोलने की तरह लिखने में यह नहीं टपक पडता। कहीं किसी के खत में लिख जाए तो दोनों की मिट्टी खराब हो।'

अपने प्रेस की पुस्तकों के विज्ञापन के लिए वह बहुत दिनों से एक साप्ताहिक पत्र निकालने का इरादा कर रहे थे। पुस्तक मन्दिर (काशी) द्वारा प्रकाशित 'शुद्ध साहित्यिक जागरण' जब मेरे सम्पादकत्व में छः महीने तक पाक्षिक निकलकर बन्द हो गया, तब उन्होंने अपने सम्पादकत्व में उसे साप्ताहिक रूप में निकालना शुरू किया। तब मेरे साथ और अधिक घनिष्ठता बढी। प्रेस में काफी देर बाद तक वह भी बैठते थे और मैं भी वहीं बैठकर अखबार पढ़ता था या प्रूफ-करेक्शन करता। प्रेस में मेरी कोई नौकरी न थी पर कुछ न कुछ साहित्यिक काम करते रहने का ध्यान तो था ही। सबसे बडा लाभ था उनका सत्संग। उनकी बातचीत से कोई न कोई नई बात रोज सीखने को मिल जाती थी—नया मुहावरा, नई शैली, कोई नया शब्द कोई नई युक्ति या उक्ति। बोलते समय थे तो जबान लडखडाती न थी और रुकती भी न थी। उर्दू के पण्डित थे हिन्दी के गढ़ में बचपन से रहते आए अध्ययन और अनुभव भी कम न था; कलम उठाते ही सजी भाषा की धारा चल पडती। उनकी चिट्ठी भी पढ़ने का मजा देती थी। कभी-कभी पोस्टकार्ड की दस-बीस लाइनों में ही बडे-बडे सिद्धान्त और तत्त्व महत्त्व की बातें कह जाते थे। बीच में कहीं मधुर विनोद का पुट भी धर देते थे। कमाल की लेखनी थी। पढ़ने लगने पर मालूम होता था कि सरस की गगरी कहीं आगे से लेकर सरपट दौडी आ रही है और मन मतवाला उसके पीछे भागा चला जाता है। जागरण के लिए प्रति सप्ताह अग्रलेख और सम्पादकीय नोट—इन के लिए भी प्रतिमास थे—कभी-कभी एक कहानी भी अन्य पत्रों की माँग पूरी करने के लिए कम से कम महीने में एक-

दो कहानी जरूर उपन्यास लिखने का सिलसिला अलग। इतना अधिक लिखने पर भी अकारिकर कुछ भी न लिखा। जिस विषय को लेखनी छू देती, वही मानो सजीव हो उठता था। लेखनी अथ से इति तक एक-सी शान से चलती थी। मस्तिष्क में सोचने की शक्ति जैसी तीव्र, वैसी ही उंगलियां में लिखते रहने की। तो भी पैसे का अभाव दूर न हुआ। हंस और जागरण में बराबर घाटा ही रहा। पुस्तकें काफी बिकती न थीं हिंदी के प्रकाशकों से कुछ मिलता न था। भारत भारती में बराबर उनकी किसी पुस्तक के संस्करण न हुए। बल्कि हिंदी वालों से उर्दू वाले कहीं अधिक गुणग्राहक निकले, क्योंकि उनकी उर्दू पुस्तकों का बाजार पंजाब में बहुत अच्छा था ऐसा वह स्वयं प्रायः कहा करते थे। यह भी कहा करते थे कि मौलाना मुहम्मद अली अपने हमदर्द के लेखों पर मुझे जितना पुरस्कार देते थे, उतना हिन्दी पत्रों के सम्पादक नहीं दे सकते। कभी कभी मौलाना मनीआर्डर न भेजकर गिनी ही पार्सल में भेजते थे।

कहां तक लिखूं। बातें बहुत हैं। लिखते समय बातों की फौज नजर आती है उन्हें कतारों में सजाना कठिन है। जो लिखते लिखते अपना हाड़ मांस गला कर जीवन निछावर कर गया उसके बारे में कितना भी लिखा जाए, थोड़ा ही होगा।

हिन्दी के गर्व और गौरव श्री प्रेमचदजी

● सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

हिन्दी के युगान्तर साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न अन्तर्प्रान्तीय ख्याति के हिन्दी के प्रथम साहित्यिक, प्रतिकूल परिस्थितियों से निर्भीक वीर की तरह लडनेवाले, उपन्यास-ससार के एकछत्र सम्राट रचना प्रतियोगिता मे विश्व के अधिक से अधिक लिखनेवाले मनीषियों के समक्ष आदरणीय श्रीमान प्रेमचदजी आज महा व्याधि मे ग्रस्त होकर शय्यागामी हो रहे हैं। कितने दुःख की बात है हिन्दी के जिन पत्रों मे हम राजनीतिक नेताओं के मामूली बुखार का तापमान प्रतिदिन पढते रहते हैं उनमे श्री प्रेमचदजी की—हिन्दी का महान उपकार करनेवाले प्रेमचदजी की अवस्था की साप्ताहिक खबर भी हम पढने को नही मिलती। दुःख नहीं यह लज्जा की बात है, हिन्दी भाषियों के लिए मर जाने की बात है। उन्होंने अपने साहित्यिकों की ऐसी दशा नही होने दी कि वे हसते हुए जीते और आशीर्वाद देते हुए मरते। इसी अभिशाप के कारण हिन्दी महारानी होकर अपनी प्रान्तीय सखियों की भी दासी है। हिन्दी तभी महारानी है जब साहित्यिक के हृदय आसन पर पूजी जाती है। पर ऐसा नही होता। उसके सेवक वे प्रतिभाशाली युवक, प्रौढ और वृद्ध ठोकरें खाते हुए बढते और पश्चात्ताप करते हुए मरते हैं। क्या लिखू लज्जा की बात स्पष्ट न करना ही अच्छा है।

मैं जब बाबू राजेन्द्र प्रसाद और प० जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्र के समादृत नेताओं को देखता हू और साथ-साथ मुझे श्री प्रेमचदजी की याद आती है मेरा हृदय आनन्द और भक्ति से पूर्ण हो जाता है। मैं देखता हू राजनीति के सामने साहित्य का सिर नहीं झुका बल्कि और ऊचा है केवल देखनेवाले नहीं हैं। हिन्दीभाषी मुझे अच्छी तरह जानते हैं। वे यह भी जानते होंगे, मेरे कानों मे हक की आवाज बस जाती है। जिस साधना से आदमी आदमी है जिस कारण नेता सम्मान पाते हैं मैं उसीकी जाच करता हू। वहां प्रेमचदजी, दरिद्र प्रेमचन्दजी अपने अध्यवसाय से शिक्षा प्राप्त करनेवाले प्रेमचदजी साहित्य की साधना मे यहां-वहां भटकते फिरने वाले प्रेमचदजी फिर भी एकनिष्ठ होकर

दिन पर ि्न, महीन पर महीन, वप पर वप साधना करते रहन वाल प्रमचन्-जी बडे बटे बहुत बड हैं। इतना बडा कोई नेता भी इस तरह सकट म पडा जिसके नाबालिग बच्चे उडी निगाह स पिता क पास बठे हुए मू क सोचत रहें और महाव्याधि म भी पिता का विश्राम न मिला—उनक अन की चिता रही ? इतन बड पिता का अन की चिन्ता—धय दे देन !

इस बार प्राय साढ तीन महीने मैं बनारस रहा। प्रमचन्जी क सरस्वती प्रेस म मरी गीतिका छप रही थी। प्रकाशक भारती भण्डार। एक दिन प० वाचस्पतिजी पाठक जिनका मैं अतिथि था बोल प्रमचदजी से मिल लीजिए।' उस समय प्राय आधा जून दोपहर की ल चलती थी। प्रेमचदजी क नाम स मैंन चलना स्वीकार कर लिया। प्रस पहुचकर दो मजिल पर चलकर दखा, प्रेमचदजी बठ हैं। मैं उनक परिवार भर स परिचित था। श्रीमती शिवरानीजी भी आइ। मैंने प्रणाम किया। फिर एक गिलास पानी मागा। बहुत दिना बाद प्रेमचन्जी को भी देखा था। मालूम होता था व और दुबल हो गए हैं। उनस कहा उन्होने कहा जन्म कहा करत है नही यह तो मेरी काठी है। कुछ दर तक साहित्यिक बातचीत हुई। फिर मैं विदा हुआ। उस दुबल दह मे शक्ति और ओज पूण मात्रा म थ।

कुछ दिन बीत गए। प्रमचन्जी क 'गोदान' की काफी चर्चा हो रही थी। एक दिन सुना प्रसादजी प्रमचदजी म मिलन गए थे व स्वय बीमार हैं। फिर सुना प्रमचदजी एक्स र कराने के लिए लखनऊ गए हैं। फिर मालूम हुआ वे लखनऊ स वापस आ गए हैं। एक दिन प० नददुलारेजी वाजपेयी के साथ उन्हे देखन गया। व उसी कमर म बठे हुए थे। पर इस बार फश पर न थे बिछ पलग पर बठ हुए थ। श्रीमती शिवरानीदेवी उनक लिए दवा तयार कर रही थी। उनकी लडकी अपने लडका को लकर आ गई थी एक ओर खडी थी मुझ देखकर नमस्त की मैं प्रेमचन्दजी की बीमारी की चिता म था कुछ कहा नहीं सिर्फ हाथ उठाकर नमस्कार किया। वह खडी हस रही थी। मरी दष्टि की सियाही उसके मुख पर पडी—उसके मुख पर मुझे भाइ की छाया मिली अगर नीचे उसके अत्यत सुन्दर बडे लडके को खलत हुए मैंन न देखा होता उसका परिचय मालूम कर उस डरवा न चुका होता तो पहचान न पाता कि यह लडकी है। फिर भी मैंन प्रेमचदजी से पूछा। लडकी न लडकी की खुली आवाज स कहा क्या आपने मुझे पहचाना नही ? मैंन तो आपको पहचान लिया। मैंन कहा मुझमें तो कोई परिवतन हुआ नही पर तुम पहले लडकी थी अब मा हो गई हो। लडकी झेंप गई। प्रेमचदजी खुलकर हस। दवी शिवरानी-जी दवा तयार करती हुई मुस्कराइ। हस निकल चुका था। उसस जमानत तलब की जा चुकी थी। जमानत देकर पत्र निकालना असभव है विशेषत

साहित्यिक के लिए, फिर भारतीय परिषद 'हंस' को लेने की बातचीत कर रहा है श्री प्रेमचदजी कहते रहे, ऐसी हालत में हमारे लिए नया पत्र निकालना ठीक होगा। प्रेमचदजी दुबल थे, जलोदर का पूरा प्रकोप था, फिर भी एक वीर की तरह बैठे हुए वार्तालाप करते रहे। बडी जिन्दादिली, सुनने वाले पर उसका असर पडता हुआ, जैसे सुनने वाले को ही वे स्वास्थ्य पहुचा रहे हो। मैं उस विजयिनी ध्वनि को तोल रहा था जिसका सिर नीचा नहीं हुआ, जो हिन्दी की महाशक्ति है और रह रहकर दुबल अस्थिशेष प्रेमचदजी को देख रहा था। दूसरे प्रसंग पर पूछा, "आप लखनऊ गए थे, वहा क्या कहा डाक्टरों ने ?' कुछ नहीं सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला, 'कहा कुछ नहीं है ठहरने के लिए कहा, पर कुछ डिसण्ट्री की शिकायत मालूम दी, परदेश, देख भाल वाला कोई नहीं, लडके को ले गए थ, कौन तीमारदारी करे लौट आया।' वाजपेयीजी से लेख आदि के लिए प्रेमचदजी ने कहा। कुछ देर तक बातचीत करके फिर हम लोगों ने उनसे विदा ली।

कुछ दिन और बीते। 'गीतिका' छप चुकी थी। अंतिम दो एक काम थे। मैं प्रेस गया हुआ था। प्रेमचदजी के बडे लडके मिले। प्रेम की आवश्यक बातें कहकर मैंने उनसे प्रेमचदजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा अब तो वह यहा नहीं रहते। मुझे उनका मुकाम बतलाया। मेरे रास्ते में ही मकान पडता था। मैं चला। बादल घिरे थे। चलते चलते पानी गिरने लगा। छाता नहीं था। भीगते हुए आनन्द आने लगा। मकान के पास आकर अनिश्चय में पड गया कि कौन सा मकान होगा। फाटक बतलाया था, यहा फाटक न दिखा एक दरवाजा सिर्फ दीख पडा। डरते हुए खोला। भीतर लम्बा मदान दखा। किनारे से रास्ता गया था। मदान के उस तरफ मकान था। कोई था नहीं जिससे पूछता। हिम्मत बाधकर बढा। किनारे चमेली के झाड, कहीं-कहीं अपराजिता लिपटी हुई। दोनो खिले। चमेली के रात के खिले कोमल फूल बूदो के थपेडो से व्याकुल थे। देखता हुआ एक फूल छुआ। फूल वक्ष पर रखे-से थे। उठा लिया। लिए हुए उनकी दशा पर विचार करता हुआ मकान के सामने आया। दूर से दो एक अपरिचित दविया दीख पडी। एक जोडी छोटे जूते पडे थे। सोचा ये उसी लडकी के लडके के जूते होंगे। एक बगल चिक पडी हुई दीख पडी। उधर चला तब तक शिवरानीजी दीख पडीं। उनसे पूछा। क्षीण स्वर से उन्होंने कहा 'सोए हैं जाइए।' मैं गया। देखा प्रेमचदजी अत्यन्त दुबल हो गए हैं। पेट फूला हुआ है।

प्रेमचदजी ने आंखें खोली मुझे देखा। बडी करुण दृष्टि। मैंने प्रणाम किया। पूछा 'आप कैसे हैं ?' दोनो बाहो की ओर दृष्टि फेरकर उन्होंने कहा, 'देखिए।' बडा करुण स्वर। अत्यन्त दुबल बाहे। मुझे शका हो चली। सिंह

दिन पर दिन, महीने पर महीने, वर्ष पर वर्ष साधना करते रहने वाले प्रेमचन्द-जी बड़े, बड़े, बहुत बड़े हैं। इतना बड़ा कोई नेता भी इस तरह संकट में पड़ा जिसके नाबालिग बच्चे उड़ी निगाह से पिता के पास बैठे हुए कुछ सोचते रहें और महाव्याधि में भी पिता का विश्राम न मिला—उनके अन्न की चिंता रही? इतने बड़े पिता को अन्न की चिंता—धन्य रे देश!

इस बार प्राय साढ़े तीन महीने मैं बनारस रहा। प्रेमचंदजी के सरस्वती प्रेस में मेरी गीतिका छप रही थी। प्रकाशक भारती भण्डार। एक दिन प० वाचस्पतिजी पाठक जिनका मैं अतिथि था बोले प्रेमचंदजी से मिल लीजिए।' उस समय प्राय आधा जून दोपहर की लू चलती थी। प्रेमचंदजी के नाम से मैंने चलना स्वीकार कर लिया। प्रेस पहुंचकर दो मंजिल पर चलकर देखा, प्रेमचन्दजी बैठे हैं। मैं उनके परिवार भर से परिचित था। श्रीमती शिवरानीजी भी आई। मैंने प्रणाम किया। फिर एक गिलास पानी मांगा। बहुत दिनों बाद प्रेमचंदजी को भी देखा था। मालूम होता था वे और दुर्बल हो गए हैं। उनसे कहा उन्होंने कहा जैसा कहा करते हैं नहीं यह तो मेरी काठी है। कुछ देर तक साहित्यिक बातचीत हुई। फिर मैं विदा हुआ। उस दुर्बल देह में शक्ति और ओज पूर्ण मात्रा में थे।

कुछ दिन बीत गए। प्रेमचंदजी के गोदान की काफी चर्चा हो रही थी। एक दिन सुना प्रसादजी प्रेमचंदजी से मिलने गए थे वे सख्त बीमार हैं। फिर सुना प्रेमचंदजी इलाज कराने के लिए लखनऊ गए हैं। फिर मालूम हुआ वे लखनऊ से वापस आ गए हैं। एक दिन प० नन्ददुलारेजी वाजपेयी के साथ उन्हें देखने गया। वे उसी कमरे में बैठे हुए थे। पर इस बार फर्श पर न थे, बिछे पलंग पर बैठे हुए थे। श्रीमती शिवरानीदेवी उनके लिए दवा तैयार कर रही थीं। उनकी लड़की अपने लड़के को लेकर आ गई थी एक ओर खड़ी थी मुझे देखकर नमस्ते की, मैं प्रेमचंदजी की बीमारी की चिंता में था कुछ कहा नहीं सिर्फ हाथ उठाकर नमस्कार किया। वह खड़ी हंस रही थी। मेरी दृष्टि की सिधाई उसके मुख पर पड़ी—उसके मुख पर मुझे भाई सी दिखी अगर नीचे उसके अत्यंत सुन्दर बड़े लड़के को खेलते हुए मैंने न देखा होता, उसका परिचय मालूम कर उस डरवा न चुका होता तो पहचान न पाता कि यह लड़की है। फिर भी मैंने प्रेमचंदजी से पूछा। लड़की ने लड़के का खुली आवाज से कहा क्या आपने मुझे पहचाना नहीं? मैंने कहा आपको पहचान लिया।' मैंने कहा मुझमें तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं पर तुम पहले लड़की थीं अब मां हो गई हो। लड़की झेंप गई। प्रेमचंदजी हंसकर हंसे। देवी शिवरानी-जी दवा तैयार करती हुई मुस्कराई। हंस निकल चुका था। उससे जमानत तलब की जा चुकी थी। जमानत देकर पत्र निकालना असंभव है विशेषत

ाहित्यिक के लिए, फिर भारतीय परिषद 'हंस' को लेने की बातचीत कर रहा है, श्री प्रेमचदजी कहते रहे, ऐसी हालत में हमारे लिए नया पत्र निकालना ठीक होगा। प्रेमचदजी दुबल थे, जलोदर का पूरा प्रकोप था, फिर भी एक वीर की तरह बैठे हुए वार्तालाप करते रहे। बडी जिन्दादिली, सुनने वालों पर उसका असर पडता हुआ, जैसे सुनने वाले को ही वे स्वास्थ्य पहुचा रहे हों। मैं उस विजयिनी ध्वनि को तोल रहा था जिसका सिर नीचा नहीं हुआ, जो हिन्दी की महाशक्ति है और रह रहकर दुबल अस्थिशेष प्रेमचदजी को देख रहा था। दूसरे प्रसग पर पूछा, "आप लखनऊ गए थे, वहा क्या कहा डाक्टरों ने ?" कुछ नहीं सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला 'कहा कुछ नहीं है, ठहरने के लिए कहा, पर कुछ डिसण्ट्री की शिकायत मालूम दी, परदेश, देख भाल वाला कोई नहीं, लडके को ले गए थे कौन तीमारदारी करे, लौट आया।' वाजपेयीजी से लेख आदि के लिए प्रेमचदजी ने कहा। कुछ देर तक बातचीत करके फिर हम लोगों ने उनसे विदा ली।

कुछ दिन और बीते। 'गीतिका' छप चुकी थी। अन्तिम दो एक फार्म थे। मैं प्रेस गया हुआ था। प्रेमचदजी के बडे लडके मिले। प्रेस की आवश्यक बातें कहकर मैंने उनसे प्रेमचदजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा, अब तो वह यहा नहीं रहते। मुझे उनका मुकाम बतलाया। मेरे रास्ते में ही मकान पडता था। मैं चला। बादल घिरे थे। चलते चलते पानी गिरने लगा। छाता नहीं था। भीगते हुए आनन्द आने लगा। मकान के पास आकर अनिश्चय में पड गया कि कौन सा मकान होगा। फाटक बतलाया था, यहा फाटक न दिखा, एक दरवाजा सिर्फ दीख पडा। डरते हुए खोला। भीतर लम्बा मैदान देखा। किनारे से रास्ता गया था। मैदान के उस तरफ मकान था। कोई था नहीं जिससे पूछता। हिम्मत बाधकर बढा। किनारे चमेली के झाड कहीं कहीं अपराजिता लिपटी हुई। दोनों खिले। चमेली के रात के खिले कोमल फूल बूदों के थपेडों से व्याकुल थे। देखता हुआ एक फूल छुआ। फूल वक्ष पर रखे न थे। उठा लिया। लिए हुए उनकी दशा पर विचार करता हुआ मकान के सामने आया। दूर के दो एक अपरिचित देवियां दीख पडीं। एक जोडी छोटे जूते पडे थे। सोचा, ये उसी लडकी के लडके के जूते होंगे। एक बगल खिडकी पडी हुई दीख पडी। उधर चला तब तक शिवरानीजी दीख पडीं। उनसे पूछा। क्षीण स्वर से उन्होंने कहा, 'सोए हैं जाइए।' मैं गया। देखा प्रेमचदजी अत्यन्त दुबल हो गए हैं। पेट फूला हुआ है।

प्रेमचन्दजी ने आखें खोलीं मुझे देखा। बडी करुण दृष्टि। मैंने प्रणाम किया। पूछा, आप कैसे हैं ?' दोनों बाहों की ओर दृष्टि फेरकर उन्होंने कहा, 'देखिए।' बडा करुण स्वर। अत्यन्त दुबल बांहें। मुझे शका हो चली। सिंह

को गोली भरपूर लग गई है। अब वह आवाज नहीं रही। मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया। कम सभलेगा? प्रेमचंदजी बोले। उन्हें अपने बच्चों की चिंता हो रही थी। मैं भरसक अपने को सभाल रहा था। मेरे हाथ का फूल बना छूटकर गिर गया। जनार्दनकुमार को लिखा है' प्रेमचन्दजी अत्यन्त मन्द स्वर में बोले 'हंस' को फिर निकालने का विचार है नहीं तो कैसे चलेगा? मेरी आंखें छलछला आईं। सभलकर कहा आप चिंता न कीजिए। आपकी सितारें हैं और ईश्वर। हंस' का कुछ दिन के लिए (लेख कविता इत्यादि) प्रेमचंदजी ने कहा। कुछ देर तक उन्हें प्रबोध देता हुआ उनके आराम का समय जानकर मैं विदा हुआ। प्रेमचंदजी के बड़े लड़के की अभी पढ़ाई पूर्ण नहीं हुई। अभी दो तीन साल एम० ए० करने में लगेंगे। शायद बी० ए० फाइनल है। उसकी दृष्टि में अभी संसार काव्य है जहां जीविका का प्रश्न नहीं। बिलकुल नया जीवन जब तरुण सदा धोखा खाता है, छला जाता है। छोटा लड़का तो निरा बच्चा है। मैंने सोचा अगर जनार्दनजी आ जाएंगे तो अच्छा होगा, 'हंस' को सहायता देंगे। मन ही मन शिवरानीजी की सेवा की याद करता हुआ 'प्रसाद' जी के यहां आया। मैं प्रेमचंदजी को देखने जब जब गया, शिवरानीजी को उनके लिए कुछ न कुछ करते देखा सदा संयत सदा दत्तचित्त।

डा० मुखर्जी काशी के प्रसिद्ध होमियोपैथ प्रेमचन्दजी के चिकित्सक हैं। रोग जलोदर है। पानी की जगह दूध दिया जाता है। डाक्टर को अभी उनके अच्छे हो जाने का विश्वास है। केवल बढ़ती हुई कमजोरी से घबराते हैं। कुछ भय उम्र से भी है। प्रेमचंदजी ६० के होंगे। दुबले पहले से थे। इतनी उम्र में प्राकृतिक शक्ति के घट जाने के कारण दुस्साध्य रोगों के लिए चिंता वाली बात रहती है। मरीज अपनी ही प्रकृति से जल्द अच्छा नहीं हो पाता।

कुछ दिन और बीते। नन्ददुलारेजी के हाथ एक गीत मैंने 'हंस' कार्यालय को भेज दिया। बड़ी कविता लिख रहा था, वह तैयार न हुई थी फिर भेजने के लिए कहला भेजा। नन्ददुलारेजी अपना लेख लेकर जाने वाले थे प्रेमचंदजी को देखने के उद्देश्य से। इसके कुछ दिन बाद वाचस्पतिजी पाठक और पदम नारायणजी आचार्य के साथ काशी छोड़ने के पहले मैं प्रेमचंदजी के दर्शनों के लिए चला। पदमनारायणजी 'गीता धर्म' के संपादक हैं अभी तक प्रेमचंदजी से व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं हो सके। मैथिली मान के लिए उनकी कुछ आशा है। हम लोग इक्के से चले। रास्ते भर गुप्तजी के अभिनन्दन की बात होती रही। मुझे बार बार प्रेमचंदजी की ही याद आती रही। गुप्तजी को आदर की दृष्टि से देखता हूं उसके अनेक प्रमाण दे चुका हूं सोच रहा था प्रेमचंद जी को न तो मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला न कोई अभिनन्दन। वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी नहीं चुने गए। मन में कहा, 'तुम्हारे लिए भी

यही मसला है जिसने ऐसा किया पता पाया।' मैंने कहा, 'मैं इसी तरह गुजरूंगा। अगर कुछ काम कर सका तो नाम-धन मुझे नहीं चाहिए।

अब तक प्रेमचन्दजी का मकान आ गया। हम लोग इक्के से उतरकर भीतर चले। मकान के सामने पहुंचे तो दो नवाग तुक बैठे हुए दीख पड़े। पर ऐसे बैठे थे जैसे घर के आदमी हों। मैंने सोचा, ये समाचार होंगे या रिश्तेदार। साथियों के साथ भीतर गया। सन्नाटा था। बड़ी धीमी आवाज में एक आगन्तुक ने कहा, 'बैठिए।' मैं चप्पल उतारकर चारपाई पर बैठ गया। इधर उधर देखा पहचान का कोई न दीख पड़ा। तब उन्हीं महाशय से कहा, 'हम लोग प्रेमचंदजी को देखने के लिए आए हैं।' नवागन्तुक ने मेरा नाम पूछा। मैंने अपना नाम बतलाया। इस समय देवी शिवरानीजी बाहर आईं। प्रेमचंदजी वहां चारपाई पर थे। रस्सी बांधकर पर्दा कर रखा गया था। पर्दा हटाने लगी। मैं प्रेमचंदजी के सामने वाली चारपाई की ओर बढ़ा तो आगन्तुक महोदय ने कहा, "ज्यादा बातचीत मना है।' मैं अपने लक्ष्य पर चलकर बैठ गया। देखते ही मेरे होश उड़ गए। प्रेमचंदजी ने हाथ जोड़कर कहा, "अब तो अन्तिम दिन है।"

हे ईश्वर! केवल दस वर्ष।

प्रेमचद एक सस्मरण

● डा० हरिवशराय 'बच्चन'

आधुनिक गद्य म 'सेवा सदन' और पद्य म भारत भारती मे कुछ एसी विशेषता थी कि प्रकाशित होते ही य पुस्तकें प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के पास पहुच गई। सेवा-सदन को पहली बार पढ़ने का अवसर मुझे तब मिला था जब मैं अंग्रेजी की सातवी या आठवी कक्षा म पढ़ता था। पुस्तक मुझे अपने किसी पडोसी स मिली थी। रोचक इतनी थी कि जब तक वह समाप्त न हो गई, मैं और कोई काम न कर सका। शायद उसे समाप्त करने म मुझे तीन दिन लग थ। अपने समय को तीन दिन तक नष्ट करने के लिए मुझे घर पर पढ़ानेवाले पडितजी की डाट फटकार भी सहनी पडी थी। उसके कई स्थान मैंने बार बार पढे थ। अपने कई मित्रो स मैंने उसकी बडाई की थी और उसे पढ़ने का अनुरोध किया था। प्रेमचद नाम से वह मेरा प्रथम परिचय था और उस प्रथम परिचय से ही मैं प्रेमचद का प्रेमी बन गया। जब पुस्तकालयो म जाता तो उनकी लिखी हुई किताबो की खोज करता और निराश होता। उस समय भारती भवन का पुस्तकालय ही प्रयाग म हिन्दी पुस्तको के लिए सबसे बडा समझा जाता था और वहा 'प्रेमचद जी की रचनाए न थी। अप टू-डेट' तो हमारे पुस्तकालय आज भी नही हैं पद्रह बष पहले की तो बात ही और थी। पत्रिकाओ म मैं उनकी कहानिया पढता और उसीसे सतोष करता।

हमारी कुछ एसी प्रकृति होती है कि जब हम किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम सुनते हैं उसकी रचनाए देखते हैं या उसके काय के विषय म सुनते हैं तो उसके रूप की कल्पना करना आरम्भ कर देते हैं। शायद हमारी उसी आकाक्षा की पूर्ति करने के लिए आधुनिक समय मे पत्रकार शीघ्रातिशीघ्र उस व्यक्ति का चित्र भी जनता के सामने उपस्थित कर देते हैं जो अपने किसी काय के कारण प्रसिद्ध हो जाता है। प्रेमचदजी कैसे होग, इसकी कल्पना करनी मैंने आरम्भ कर दी थी। प्रेमचद—गोरे होंगे दुबले पतले होंगे और सुन्दर होंगे। नाम मे आया प्रत्येक अक्षर जसे मेरी कल्पना को कुछ कुछ सकेत-

आ रहा था। प्रेमचन्दजी का चित्र कुछ विलंब से ही जनता के सामने आया और उनका पहला चित्र जो मैंने देखा वह था, रंगभूमि के प्रथम भाग में। चित्र देखकर मुझे कुछ निराशा हुई। फिर आश्चर्य हुआ। अरे, ऐसे साधारण-से दिखाई देने वाले आदमी ने यह असाधारण पुस्तक लिखी है!

प्रेमचन्दजी को साक्षात् देखने का अवसर मुझे १९३० में मिला। उस समय मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० (प्रीवियस) में पढ़ रहा था। उसी वर्ष पहले-पहल विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद ने विद्यार्थियों में गल्प लिखने की रुचि उत्पन्न करने के लिए गल्प-सम्मेलन करना निश्चित किया था। प्रति-योगिता में केवल विश्वविद्यालय के विद्यार्थी ही भाग ले सकते थे। सूचना दी गई थी कि सम्मेलन के सभापति श्री प्रेमचंदजी होंगे। इस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए ही मैंने अपनी कहानी लिखी।

निश्चित समय से पहले ही हॉल विद्यार्थियों से भर गया था। मेरे ही समान अनेक विद्यार्थियों में श्री प्रेमचंदजी को देखने की उत्सुकता थी। उस समय तक वे उपन्यास सम्राट के नाम से विख्यात हो चुके थे। उनके साथ छत्र-चँवर की प्रत्याशा तो शायद ही किसी ने की हो, पर ऐसा तो प्रायः सभी ने सोच रखा था कि उनकी सूरत शक्ल-पोशाक में कुछ ऐसी विशेषता होगी कि लोग उन्हें स्वतः ही पहचान लेंगे। विद्यार्थियों के अतिरिक्त नगर के अन्य साहित्य-प्रेमी भी निमन्त्रित किए गए थे। आगन्तुकों में हमारी दृष्टि किसी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व की खोज कर ही रही थी कि श्रीयुत् धीरेंद्र वर्मा ने ताली बजाई और उनके संकेत पर सारा हाल तालियों से गड़गड़ा उठा। प्रेमचंदजी आ गए थे। सभापति के लिए प्रस्ताव हो जाने पर वे मेज के सामने बीच की कुर्सी पर आकर बैठ गए। मेरे कानों में कई बार धीमे-धीमे स्वर में आवाज आई— अरे यही प्रेमचंदजी हैं! अरे यही प्रेमचंदजी हैं!'

प्रेमचन्दजी धोती के ऊपर खुले कालर का गरम कोट पहने हुए थे। जाड़े के दिन थे। नीचे वास्कट भी थी। सिर खुला था। उन्हें देखकर मुझे मालूम हुआ कि जो चित्र मैंने उनका देख रखा था उसकी अपेक्षा वे मेरी प्रथम कल्पना के अधिक समीप थे। उस समय वे घनी-लंबी मूछें रखे हुए थे।

गल्पें पढ़ी गईं। मुझे प्रथम पुरस्कार मिला था पर प्रेमचंदजी को द्वितीय पुरस्कार विजेता की कहानी अधिक पसंद आई थी। सम्मेलन के पश्चात् मेरा परिचय उनसे कराया गया। कहानी पढ़ने की मेरी रीति को उन्होंने बहुत पसंद किया था। साथ ही सुनाई जाने वाली कहानी को सफल बनाने के कई गुर भी उन्होंने मुझे बताए थे। जब मैंने उन्हें बतलाया कि यह मेरी पहली ही कहानी थी तो उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने मुझे बराबर लिखते रहने की सलाह दी। हम लोगों ने उन्हें बड़ी देर तक घेरे रखा, तरह-तरह के प्रश्न किए

प्रेमचंद : एक संस्मरण

● डा० हरिवंशराय 'बच्चन'

आधुनिक गद्य में सेवा-सदन और पद्य में 'भारत भारती' में कुछ ऐसी विशेषता थी कि प्रकाशित होते ही ये पुस्तकें प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के पास पहुंच गईं। सेवा सदन को पहली बार पढ़ने का अवसर मुझे तब मिला था, जब मैं अंग्रेजी की सातवीं या आठवीं कक्षा में पढ़ता था। पुस्तक मुझे अपने किसी पड़ोसी से मिली थी। रोचक इतनी थी कि जब तक वह समाप्त न हो गई मैं और कोई काम न कर सका। शायद उसे समाप्त करने में मुझे तीन दिन लगे थे। अपने समय को तीन दिन तक नष्ट करने के लिए मुझे घर पर पढ़ानेवाले पंडितजी की डांट फटकार भी सहनी पड़ी थी। उसके कई स्थल मैंने बार बार पढ़े थे। अपने कई मित्रों से मैंने उसकी बड़ाई की थी और उसे पढ़ने का अनुरोध किया था। प्रेमचंद नाम से यह मेरा प्रथम परिचय था और उस प्रथम परिचय से ही मैं प्रेमचंद का प्रेमी बन गया। जब पुस्तकालयों में जाता तो उनकी लिखी हुई किताबों की खोज करता और निराश होता। उस समय भारती भवन का पुस्तकालय ही प्रयाग में हिन्दी पुस्तकों के लिए सबसे बड़ा समझा जाता था और वहां 'प्रेमचन्द' जी की रचनाएं न थीं। अप-टू-डेट तो हमारे पुस्तकालय आज भी नहीं हैं पंद्रह वर्ष पहले की तो बात ही और थी। पत्रिकाओं में मैं उनकी कहानियां पढ़ता और उसी से संतोष करता।

हमारी कुछ ऐसी प्रकृति होती है कि जब हम किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम सुनते हैं उसकी रचनाएं देखते हैं या उसके कार्य के विषय में सुनते हैं तो उसके रूप की कल्पना करना आरम्भ कर देते हैं। शायद हमारी इसी आकांक्षा की पूर्ति करने के लिए आधुनिक समय के पत्रकार शीघ्रातिशीघ्र उस व्यक्ति का चित्र भी जनता के सामने उपस्थित कर देते हैं, जो अपने किसी कार्य के कारण प्रसिद्ध हो जाता है। प्रेमचंदजी कैसे होंगे, इसकी कल्पना करनी मैंने आरम्भ कर दी थी। प्रेमचंद—गोरे होंगे, दुबले-पतले होंगे और सुंदर होंगे। नाम में आया प्रत्येक अक्षर जैसे मेरी कल्पना को कुछ-कुछ संकेत

सा दे रहा था। प्रेमचन्दजी का चित्र कुछ विलंब से ही जनता के सामने आया और उनका पहला चित्र जो मैंने देखा, वह था, 'रंगभूमि' के प्रथम भाग में। चित्र देखकर मुझे कुछ निराशा हुई। फिर आश्चर्य हुआ। अरे, ऐसा साधारण-से दिखाई देने वाले आदमी ने यह असाधारण पुस्तक लिखी है!

प्रेमचंदजी को साक्षात् देखने का अवसर मुझे १६३० में मिला। उस समय मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० (प्रीवियस) में पढ़ रहा था। उसी वर्ष पहले पहल विश्वविद्यालय की हिंदी परिषद ने विद्यार्थियों में गल्प लिखने की रुचि उत्पन्न करने के लिए गल्प-सम्मेलन करना निश्चित किया था। प्रतियोगिता में केवल विश्वविद्यालय के विद्यार्थी ही भाग ले सकते थे। सूचना दी गई थी कि सम्मेलन के सभापति श्री प्रेमचंदजी होंगे। इस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए ही मैंने अपनी कहानी लिखी।

निश्चित समय से पहले ही हाल विद्यार्थियों से भर गया था। मेरे ही समान अनेक विद्यार्थियों में श्री प्रेमचंदजी को देखने की उत्सुकता थी। उस समय तक वे उपन्यास सम्राट के नाम से विख्यात हो चुके थे। उनके साथ छत्र चंवर की कल्पना तो शायद ही किसीने की हो, पर ऐसा तो प्रायः सभीने सोच रखा था कि उनकी सूरत शक्ल पोशाक में कुछ ऐसी विशेषता होगी कि लोग उन्हें देखते ही पहचान लेंगे। विद्यार्थियों के अतिरिक्त नगर के अन्य साहित्य प्रेमी भी निमंत्रित किए गए थे। आगंतुकों में हमारी दृष्टि किसी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व की खोज कर ही रही थी कि श्रीयुत् धीरेंद्र वर्मा ने ताली बजाई और उनके संकेत पर सारा हाल तालियों से गड़गड़ा उठा। प्रेमचन्दजी आ गए थे। सभापति के लिए प्रस्ताव हो जाने पर वे मेज के सामने बीच की कुर्सी पर आकर बैठ गए। मेरे कानों में कई बार धीमे धीमे स्वर में आवाज आई— अरे, यही प्रेमचंदजी हैं! अरे यही प्रेमचंदजी हैं!

प्रेमचन्दजी धोती के ऊपर खुले कालर का गरम कोट पहने हुए थे। जाड़े के दिन थे। नीचे वास्कट भी थी। सिर खुला था। उन्हें देखकर मुझे मालूम हुआ कि जो चित्र मैंने उनका देख रखा था उसकी अपेक्षा वे मेरी प्रथम कल्पना के अधिक समीप थे। उस समय वे घनी लंबी मूँछें रखे हुए थे।

गल्पें पढ़ी गईं। मुझे प्रथम पुरस्कार मिला था पर प्रेमचंदजी को द्वितीय पुरस्कार विजेता की कहानी अधिक पसंद आई थी। सम्मेलन के पश्चात् मेरा परिचय उनसे कराया गया। कहानी पढ़ने की मेरी रीति को उन्होंने बहुत पसंद किया था। साथ ही सुनाई जाने वाली कहानी को सफल बनाने के कई गुर भी उन्होंने मुझे बताए थे। जब मैंने उन्हें बतलाया कि यह मेरी पहली ही कहानी थी तो उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने मुझे बराबर लिखते रहने की सलाह दी। हम लोगों ने उन्हें बड़ी देर तक घेरे रखा, तरह-तरह के प्रश्न किए

ग्रौर सभीका उन्होंने उत्तर दिया। उनकी बातचीत में उर्दू के शब्द बहुत ग्राते थे ग्रौर सुनकर हमें ग्राश्चर्य होता था कि ये हिन्दी लिखते कैसे होंगे? प्रेमचन्दजी चले गए ग्रौर उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी मिलनसारी सदा के लिए हमारे हृदय में स्थान बना गई। उनके चले जाने पर भी हमारे मन में यही प्रश्न उठता रहा क्या हमने सचमुच प्रेमचंद को देखा?

कुछ अपनी सफलता, कुछ प्रेमचन्दजी का प्रोत्साहन, कुछ बेकारी—सबने मुझे साल भर कहानी लिखने में सहायता दी। दूसरे वर्ष फिर गल्प-सम्मेलन हुआ। मुझसे भी कहानी मांगी गई थी यद्यपि अब मैं विश्वविद्यालय का छात्र न था। मेरी कहानी उस बार भी सर्वोत्तम रही ग्रौर परिषद वालों ने उसे प्रेमचन्दजी के पत्र 'हंस' में भेज दिया। कहानी प्रेमचन्दजी को पसंद ग्राई ग्रौर उस उन्होंने अपने विशेषांक में स्थान दिया (हृदय की ग्रांखें, हंस जनवरी, ३१)। मेरे पास उन्होंने पत्र लिखा, तुमने वर्ष भर में काफी उन्नति की है 'हंस' के लिए कुछ भेजते रहा करो। मैंने शीघ्र ही दूसरी कहानी भी भेजी। कहानी पहली-सी अच्छी न थी। प्रेमचन्दजी ने मुझे अंग्रेजी में पत्र लिखा। कहानी के विषय में लिखा था *'I hope, you won t mind if I take the liberty of* making certain changes in your story' अर्थात् मैं आशा करता हूं यदि मैं तुम्हारी कहानी में कहीं कहीं कुछ परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता ले लूं तो तुम बुरा न मानोगे।

हिन्दी का अदना से अदना संपादक यह अधिकार लिए बैठा है कि जिस लेख को जैसा चाहे घटाए-बढ़ाए तोड़े मरोड़, ग्रौर वह अपने इस अधिकार का इच्छानुसार उचित अनुचित उपयोग किया करता है। कहानी प्रधान पत्र के लिए प्रेमचंद जी से अधिक अधिकारी संपादक कौन हो सकता था? मुझसे अधिक नगण्य लेखक भी कौन हो सकता था? फिर भी कहानी में परिवर्तन करने की उन्होंने मेरी अनुमति चाही। प्रेमचन्दजी के स्वभाव में बड़ी विनम्रता थी। अपने बड़प्पन का उन्हें कभी भी ध्यान न होता था। वे कितने बड़े हैं इसे वे न जानते थे ग्रौर मेरी समझ में तो उनका यह न जानना कुछ दोष की सीमा तक पहुंच गया था। पिछले दिनों जब कुछ नासमझ लोगों ने उनके ऊपर आक्षेप करना आरम्भ किया तो उन्हें चाहिए था कि हाथी के समान गंभीर गति से वे चल जाते ग्रौर कुत्तों को भूंकने देते। प्रेमचन्दजी हाथी तो थे पर यह न जानते थे कि मैं हाथी हूं ग्रौर इसी कारण वे कभी-कभी अपने क्षुद्र विरोधियों से उलझ पड़ते थे। हाथी का अपने को हाथी जानना खतरनाक है, ज्यादा खतरनाक है गीदड़ का अपने को हाथी मानना।

मेरी कहानी जब परिष्कृत होकर 'हंस' में छपी ('मकान त्याग', हंस सितंबर ३१) तो मुझे मालूम हुआ कि प्रेमचन्दजी ने कहां-कहां नहीं, सभी जगह

अपना लखनी चलानी पड़ी थी। मैं बहुत लज्जित हुआ। आगे जब उनसे मिलने का अवसर मिला तो उसकी भी बात चली। कहने लगे, 'हिंदी के सम्पादक पका हुई चीजें कम ही पाते हैं। दस कहानी में शायद एक कहानी ऐसी आती हो जिसे ठीक करने में मेहनत न करनी पड़ती हो।

इस बीच में मेरी कविताओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' के नाम से निकल चुका था। 'हंस' में उसकी समालोचना भी निकल चुकी थी (हंस मई १९३३) पर प्रेमचन्दजी को इसका पता न था कि उसका लेखक मैं ही हूं। 'तेरा हार' 'बच्चन' के नाम से निकला था और वे मुझे अब तक 'हरिवंशराय' के नाम से ही जानते थे। उन्हें जब यह मालूम हुआ तो बहुत प्रसन्न हुए पर उन्होंने मुझे साहित्य के लिए एक ही नाम रखने की सलाह दी। कहने लगे "अगर आज मैं तुम्हारे नाम से लिखने लगूं तो मुझे भी अपना स्थान बनाने में मुश्किल हो।" इस वार्तालाप के सिलसिले में प्रेमचंदजी ने कुछ ऐसी बातें बतलाईं जिनका प्रभाव मेरे जीवन पर बहुत पड़ा। बोले "कहानी और कविता की मनोवृत्ति में भारी अन्तर है। रवि बाबू जैसे प्रतिभावाले की बात और है। सफल कहानी-लेखक और सफल कवि दोनों होना कठिन है। कम से कम आरम्भ में अपनी मनोवृत्ति जिस ओर अधिक हो, उसी ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।" उन्होंने साफ-साफ तो न कहा था पर उनका तात्पर्य यह था कि मैं कहानी में सम्भवतः अधिक सफल हो सकता हूं पर मेरी रुचि कविता की ओर अधिक बढ़ी। जीवन की अनिवार्य प्रगति ही कुछ ऐसी थी।

मेरे छोटे भाई की बदली प्रयाग से काशी को हो गई थी। मैं भी उन दिनों अंग्रेजी दैनिक पायोनियर के टूरिंग रिप्रजेंटेटिव के पद पर काम करता था। मेरा बनारस आना-जाना बराबर बना रहता था। जब जब मैं बनारस जाता था उनके दर्शन के लिए अवश्य जाता था और जब उनके पास से लौटता था, तब कुछ सीखकर, कुछ सबक लेकर। उन दिनों प्रेमचंदजी बेनिया पार्क के पासवाले मकान में रहते थे और प्रतिदिन प्रसादजी के साथ पार्क में लगभग एक घंटा टहला करते थे। जितने दिन मैं बनारस में रहता मैं भी टहलने के समय पार्क में पहुंच जाता और दोनों साहित्यिक महारथियों के पीछे पीछे चलता। कभी-कभी श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' भी आ जाते थे। प्रसादजी कम बोलते पर प्रेमचन्दजी अनवरत मनोरंजक बातें करते हंसते हंसाते रहते थे। मैं जब पहले दिन गया तो मैंने यह सोचा कि जब प्रसादजी और प्रेमचंदजी चलते होंगे तो क्या साहित्यिक वार्तालाप होता होगा। पर उनकी बातचीत में साहित्यिक चर्चा का प्रश्न सबसे कम होता था। वे जीवन के साधारण से साधारण विषयों पर कैसी जानकारी से बातें करते थे, कैसी रुचि से! मैं तो कुछ देर के लिए उनके लेखक-स्वरूप को भूल ही जाता था। इसमें मैंने उनकी महानता का

चिह्न समझा। छोटे लेखक सदा अपनी रचित पुस्तकों के पन्नों से दबे हुए दिखाई पड़ते हैं, महान लेखक अपनी रचनाओं से अधिक महान होते हैं, वे उनसे दबे नहीं जा सकते, दब रहना पसन्द नहीं करते।

एक बार की बात है। मैं बनारस गया हुआ था। मेरे मन में इच्छा हुई कि जिस समय प्रेमचंदजी और प्रसादजी बेनिया पार्क में घूम रहे हों, उस समय उनका एक चित्र ले लिया जाए। मैंने अपना प्रस्ताव उनके सामने रखा और अनुमति मिल गई। दूसरे दिन फोटोग्राफर नियत समय पर पार्क में पहुंच गया था।

फोटोग्राफर को देखकर प्रेमचंदजी कुछ नाराज़ से हुए। बोले, 'भाई यह क्या? मैंने समझा था कि तुम्हारे पास कमरा होगा और तुम स्नैप ले लोगे। यहां कोई हाल पूछनेवाला नहीं और तुम पांच रुपए खर्च करके तस्वीर खिंचाओगे! अभी नये-नये यूनिवर्सिटी से निकले हो। भावुकता भरी है। पैसों का मूल्य नहीं समझते। मैं ऐसा जानता तो कभी तस्वीर खिंचाने को तैयार न होता।

मैं कुछ लज्जित हुआ, पर उससे अधिक दुखी। यदि प्रेमचंदजी जैसे व्यक्ति किसी अन्य देश में होते तो क्या तब क्या उन्हें यही कहना पड़ता कि कोई पुर्सा हाल नहीं?

खैर, फोटोग्राफर आ ही गया था। उनका चित्र लिया गया। इस समय भी वह चित्र मेरी आंखों में है। प्रेमचंदजी नंगे सिर, खद्दर का कुर्ता पहने खड़े हैं। उनके चेहरे पर पड़ी हुई प्रत्येक पंक्ति संघर्षमय जीवन का इतिहास-सा बना रही है। उनकी आंखों की चमक में उनका उच्चादर्श झलक रहा है। उनके चेहरे की मुस्कराहट में उनका भोलापन फूटा पड़ता है। नम्रता, सरलता और निरभिमान उनके रूप में रसा बसा-सा प्रतीत होता है। प्रेमचंद जैसे रोज़ घूमने आते थे, आ गए थे—बाल बे-कढ़े, दाढ़ी बे-बनी, कुर्ते में जहां तहां सिकन पड़ी। प्रसादजी फोटो खिंचाने की तैयारी से आए थे—बाल जमे कढ़े, दाढ़ी बनी, कुर्ता रेशमी।[1]

जब मेरी 'मधुशाला' प्रकाशित हुई तो मैंने उन्हें एक प्रति भेजी। इसके पूर्व भी वे 'मधुशाला' मुझसे सुन चुके थे। 'हंस' में उन्होंने स्वयं इसकी समालोचना लिखी। दक्षिण भारत में सभापति के पद से भाषण देते हुए भी वे इस लघु कृति को न भुला सके। चारों ओर के विरोध के बीच में उनके कुछ शब्दों से मुझे जो बल प्राप्त हुआ, उसे मैं ही जानता हूं।

---

1. बाद को यह चित्र 'हंस' के 'प्रेमचंद स्मृति अंक' में छपा। शायद प्रेमचंद प्रसाद का साथ साथ यह एकमात्र चित्र है।

अन्तिम बार उनके दर्शन मुझे आरा १९३५ में हुए थे। वे वहां की विद्यार्थी-सभा के वार्षिक अधिवेशन में सभापति होकर गए थे। मुझे भी बुलाया गया था। कवि-सम्मेलन में वे पधारे थे। मैं उनके बगल में ही बैठा था। मेरे लिए पानी आया। मैंने पूछा, 'बाबूजी, आप भी पानी पिएंगे ?'

'तुम्हारे हाथ से पानी पिएंगे ?' कहकर कहकहा लगाकर वे हंस पड़े। उनकी-सी उन्मुक्त हंसी, गांधीजी की हंसी छोड़कर मैंने किसी और की नहीं देखी।

कवि-सम्मेलन हुआ। जिस समय मैं कविता पढ़कर मंच से नीचे उतरा, प्रेमचंद जी ने कुर्सी से उठकर मुझे छाती से लगा लिया। उन्होंने मुझसे जो कहा, वह तो उनका मेरे लिए आशीर्वाद था। कहने की क्या आवश्यकता ? मैंने झुककर चरण छुए। उस समय यह न जान सका कि फिर उन्हें न देख सकूंगा। उन दिनों मेरा तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी। कितना ज़ोर दिया था उन्होंने मुझे तन्दुरुस्ती पर सबसे अधिक ध्यान देने के लिए! पर इस विषय में तो उन्हें मैं 'पर उपदेश कुशल' ही समझूंगा। यदि वे उसका एक-चौथाई भी ध्यान अपने स्वास्थ्य की ओर देते तो शायद अभी हमको उनकी असामयिक मृत्यु का दुखद समाचार सुनने को न मिलता।

उनकी बीमारी का समाचार पत्रों में देखने को मिला था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि जाकर उनको देख आऊं पर अपनी पत्नी की कठिन बीमारी के कारण जाना न हो सका और एक दिन सहसा पत्रों में पढ़कर दिल बैठ गया कि अब वह उपन्यास देश का सम्राट इस संसार में नहीं रहा।

मानी कहेंगे कि प्रेमचंदजी तो अपनी रचनाओं में सदा के लिए वर्तमान हैं पर मैंने तो मनुष्य प्रेमचंद को लेखक प्रेमचंद से कहीं ऊंचा पाया था। और अब उस मनुष्य प्रेमचंद को हमने सदा के लिए खो दिया है!

शोक करने के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं ?

नवंबर, १९३६]

चिह्न समझा। छोटे लेखक सदा अपनी रचित पुस्तकों से पन्ना से ढके हुए। पडते हैं महान लेखक अपनी रचनाओं से अधिक महान होते हैं, वे उन नहीं जा सकते ढक रहना पसन्द नहीं करते।

एक बार की बात है। मैं बनारस गया हुआ था। मेरे मन में इच्छा कि जिस समय प्रेमचंदजी और प्रसादजी बनिया पार्क में घूम रहे हों उस उनका एक चित्र ले लिया जाए। मैंने अपना प्रस्ताव उनके सामने रखा अनुमति मिल गई। दूसरे दिन फोटोग्राफर नियत समय पर पार्क में गया था।

फोटोग्राफर को देखकर प्रेमचंदजी कुछ नाराज से हुए। बोले, "भाई क्या ? मैंने समझा था कि तुम्हारे पास कमरा होगा और तुम स्नैप ले लो यहां कोई हाल पूछनेवाला नहीं और तुम पांच रुपए खर्च करके तसवीर खि आगे ! अभी नये-नये यूनिवर्सिटी से निकले हो। भावुकता भरी है। पैसा मूल्य नहीं समझते। मैं ऐसा जानता तो कभी तसवीर खिचाने को तैयार होता।

मैं कुछ लज्जित हुआ पर उससे अधिक दुखी। यदि प्रेमचन्दजी एसे व्यक्ति किसी अन्य देश में होते तो अब तक क्या उन्हें यही कहना पड़ता कि कोई पुस हाल नहीं ?

खैर फोटोग्राफर आ ही गया था। उनका चित्र लिया गया। इस समय भी वह चित्र मेरी आंखों में है। प्रेमचंदजी नंगे सिर खद्दर का कुर्ता पहने खड़े हैं। उनके चेहरे पर पड़ी हुई प्रत्येक पंक्ति संघर्षमय जीवन का इतिहास-सा बता रही है। उनकी आंखों की चमक में उनका उच्चादर्श झलक रहा है। उनके चेहरे की मुस्कराहट में उनका भोलापन फूटा पड़ता है। नम्रता सरलता और निरभिमान, उनके रूप में रमा बसा सा प्रतीत होता है। प्रेमचन्द जैसे रोज घूमने आते थे, आ गए थे—बाल बेकढ़े दाढ़ी बेबनी कुर्ते में जहां-तहां शिकन पड़ी। प्रसादजी फोटो खिंचाने की तैयारी से आए थे—बाल जमे कढ़े दाढ़ी बनी कुर्ता रेशमी।[1]

जब मेरी 'मधुशाला' प्रकाशित हुई तो मैंने उन्हें एक प्रति भेजी। इसके पूर्व भी वे 'मधुशाला' मुझसे सुन चुके थे। 'हंस' में उन्होंने स्वयं इसकी समालोचना लिखी। दक्षिण भारत में सभापति के पद से भाषण देते हुए भी वे इस लघु कृति को न भूला सके। चारों ओर के विरोध के बीच में उनके कुछ शब्दों से मुझे जो बल प्राप्त हुआ उसे मैं ही जानता हूं।

---

1 बाद को यह चित्र 'हंस' के प्रेमचंद स्मृति अंक में छपा। शायद प्रेमचंद प्रसाद का साथ साथ यह एकमात्र चित्र है।

अंतिम बार उनके दर्शन मुझे आरा १६३५ में हुए थे। वे वहां की विद्यार्थी-सभा के वार्षिक अधिवेशन में सभापति होकर गए थे। मुझे भी बुलाया गया था। कवि-सम्मेलन में वे पधारे थे। मैं उनके बगल में ही बैठा था। मेरे लिए पानी आया। मैंने पूछा, 'बाबूजी, आप भी पानी पिएंगे ?'

'तुम्हारे हाथ से पानी पिएंगे ?" कहकर कहकहा लगाकर वे हंस पड़े। उनकी-सी उन्मुक्त हंसी, गांधीजी की हंसी छोड़कर मैंने किसी और की नहीं देखी।

कवि-सम्मेलन हुआ। जिस समय मैं कविता पढ़कर मंच से नीचे उतरा, प्रेमचंद जी ने कुर्सी से उठकर मुझे छाती से लगा लिया। उन्होंने मुझसे जो कहा, वह तो उनका मेरे लिए आशीर्वाद था। कहने की क्या आवश्यकता ? मैंने झुककर उनके पैर छुए। उस समय यह न जान सका कि फिर उन्हें न देख सकूंगा। उन दिनों मेरी तंदुरुस्ती ठीक नहीं थी। कितना ज़ोर दिया था उन्होंने मुझे तंदुरुस्ती पर सबसे अधिक ध्यान देने के लिए ! पर इस विषय में तो उन्हें मैं पर उपदेश कुशल ही समझूंगा। यदि वे उसका एक चौथाई भी ध्यान अपने स्वास्थ्य की ओर देते तो शायद अभी हमको उनकी असामयिक मृत्यु का दुखद समाचार सुनने को न मिलता।

उनकी बीमारी का समाचार पत्रों में देखने को मिला था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि जाकर उनको देख आऊं पर अपनी पत्नी की कठिन बीमारी के कारण जाना न हो सका और एक दिन सहसा पत्रों में पढ़कर दिल बैठ गया कि अब वह उपन्यास दर्शकों का सम्राट इस संसार में नहीं रहा।

मानी कहेंगे कि प्रेमचंदजी तो अपनी रचनाओं में सदा के लिए वर्तमान हैं, पर मैंने तो मनुष्य प्रेमचंद को लेखक प्रेमचंद से कहीं ऊंचा पाया था। और अब उस मनुष्य प्रेमचंद को हमने सदा के लिए खो दिया है !

शोक करने के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं ?

नवंबर, १६३६]

चिह्न समझा। छोटे लेखक सदा अपनी रचित पुस्तकों में पन्नों से ढके हुए दिखाई पड़ते हैं महान लेखक अपनी रचनाओं से अधिक महान होते हैं, वे उनसे ढके नहीं जा सकते ढके रहना पसन्द नहीं करते।

एक बार की बात है। मैं बनारस गया हुआ था। मेरे मन में इच्छा हुई कि जिस समय प्रेमचंदजी और प्रसादजी बेनिया पार्क में घूम रहे हों उस समय उनका एक चित्र ले लिया जाए। मैंने अपना प्रस्ताव उनके सामने रखा और अनुमति मिल गई। दूसरे दिन फोटोग्राफर नियत समय पर पार्क में पहुंच गया था।

फोटोग्राफर को देखकर प्रेमचंदजी कुछ नाराज़ से हुए। बोले, "भाई यह क्या? मैंने समझा था कि तुम्हारे पास कमरा होगा और तुम स्नैप ले लोगे। यहां कोई हाल पूछनेवाला नहीं और तुम पांच रुपये खर्च करके तस्वीर खिंचाओगे! अभी नये-नये यूनिवर्सिटी से निकले हो। भावुकता भरी है। पैसे का मूल्य नहीं समझते। मैं ऐसा जानता तो कभी तस्वीर खिंचाने को तैयार न होता।

मैं कुछ लज्जित हुआ पर उससे अधिक दुखी। यदि प्रेमचन्दजी ऐसे व्यक्ति किसी अन्य देश में होते तो अब तक क्या उन्हें यही कहना पड़ता कि कोई पुर्सा हाल नहीं?

खैर, फोटोग्राफर आ ही गया था। उनका चित्र लिया गया। इस समय भी वह चित्र मेरी आंखों में है। प्रेमचंदजी नंगे सिर खद्दर का कुर्ता पहने खड़े हैं। उनके चेहरे पर पड़ी हुई प्रत्येक पंक्ति संघर्षमय जीवन का इतिहास-सा बना रही है। उनकी आंखों की चमक में उनका उच्चादर्श झलक रहा है। उनके चेहरे की मुस्कराहट में उनका भोलापन फूटा पड़ता है। नम्रता, सरलता और निरभिमान, उनके रूप में रसा बसा-सा प्रतीत होता है। प्रेमचन्द जैसे रोज घूमने आते थे, आ गए थे—बाल बे-कढ़े, दाढ़ी बे-बनी, कुर्ते में जहां-तहां सिकन पड़ी। प्रसादजी फोटो खिंचाने की तैयारी से आए थे—बाल जमे कढ़े, दाढ़ी बनी, कुर्ता रेशमी।[1]

जब मेरी 'मधुशाला' प्रकाशित हुई तो मैंने उन्हें एक प्रति भेजी। इसके पूर्व भी वे 'मधुशाला' मुझसे सुन चुके थे। 'हंस' में उन्होंने स्वयं इसकी समालोचना लिखी। दक्षिण भारत में सभापति के पद से भाषण देते हुए भी वे इस लघु कृति को न भूला सके। चारों ओर के विरोध के बीच में उनके कुछ शब्दों से मुझे जो बल प्राप्त हुआ उसे मैं ही जानता हूं।

---

१ बाद को यह चित्र 'हंस' के प्रेमचंद स्मृति अंक में छपा। शायद प्रेमचंद प्रसाद का साथ साथ यह एकमात्र चित्र है।

अंतिम बार उनके दर्शन मुझे आरा १९३५ में हुए थे। वे वहां की विद्यार्थी-सभा के वार्षिक अधिवेशन में सभापति होकर गए थे। मुझे भी बुलाया गया था। कवि-सम्मेलन में वे पधारे थे। मैं उनके बगल में ही बैठा था। मेरे लिए पानी आया। मैंने पूछा 'बाबूजी, आप भी पानी पिएंगे ?"

'तुम्हारे हाथ से पानी पिएंगे ?" कहकर कहकहा लगाकर वे हंस पड़े। उनकी-सी उन्मुक्त हंसी, गांधीजी की हंसी छोड़कर, मैंने किसी और की नहीं देखी।

कवि-सम्मेलन हुआ। जिस समय मैं कविता पढ़कर मंच से नीचे उतरा, प्रेमचंद-जी ने कुर्सी से उठकर मुझे छाती से लगा लिया। उन्होंने मुझसे जो कहा, वह तो उनका मेरे लिए आशीर्वाद था। कहने की क्या आवश्यकता ? मैंने झुककर उनके पैर छुए। उस समय यह न जान सका कि फिर उन्हें न देख सकूंगा। उन दिनों मेरी तंदुरुस्ती ठीक नहीं थी। कितना जोर दिया था उन्होंने मुझे तंदुरुस्ती पर सबसे अधिक ध्यान देने के लिए ! पर इस विषय में तो उन्हें मैं पर उपदेश कुशल ही समझूंगा। यदि वे उसका एक चौथाई भी ध्यान अपने स्वास्थ्य की ओर देते तो शायद अभी हमको उनकी असामयिक मृत्यु का दुखद समाचार सुनने को न मिलता।

उनकी बीमारी का समाचार पत्रों में देखने को मिला था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि जाकर उनको देख आऊं पर अपनी पत्नी की कठिन बीमारी के कारण जाना न हो सका और एक दिन सहसा पत्रों में पढ़कर दिल बैठ गया कि अब वह उपन्यास देश का सम्राट इस संसार में नहीं रहा।

मानी कहेंगे कि प्रेमचंदजी तो अपनी रचनाओं में सदा के लिए वर्तमान हैं, पर मैंने तो मनुष्य प्रेमचंद को लेखक प्रेमचंद से कहीं ऊंचा पाया था। और अब उस मनुष्य प्रेमचंद को हमने सदा के लिए खो दिया है !

शोक करने के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं ?

नवंबर, १९३६]

मेरा बाप

● श्री अमृत राय

प्रेमचंद का संस्मरण मैं क्या दूं ? मैं जान ही कितना पाया उस आदमी को ? मेरी उम्र मुश्किल से पन्द्रह की रही होगी जब वह आदमी हमसे अलग हो गया। मैं तब इण्टरमीडिएट के पहले साल में था। सन '३६ को अब सत्रह बरस होते हैं, बड़ी कच्ची उम्र थी। ईमानदारी की बात है कि मेरे पास वैसे कोई संस्मरण नहीं हैं जो शायद आप मुझसे सुनना चाहते हैं।

छोटे रूप में कहूं तो यही कहना होगा कि मैं एक पिता के रूप में ही देख पाया उन्हें। और जितनी कुछ समझ थी उतना एक व्यक्ति के रूप में भी देखने की कोशिश की यानी अब करता हूं स्मृतियों के सहारे।

प्रेमचंद बहुत सीधे सादे बेलौस, मुरव्वती आदमी थे। जो भी लोग उनके सम्पर्क में आए उनको प्रेमचंद का यही रूप देखने को मिला होगा। घर में भी उनका यही रूप था। घर के बाहर और घर के भीतर अपने बाहर और अपने भीतर कहा भी उसमें कोई दुरगापन नहीं था। सब जगह वह एक था, झील के नीले पानी की तरह साफ, पारदर्शी। यही उस आदमी की सबसे बड़ी महानता थी कि वह किसी तरह महान नहीं था। न कपड़े-लत्ते में न तौर तरीके में, न बोलचाल में, न रहन-सहन में। हर ओर से वह आदमी एक साधारण निम्न मध्यवर्ग का आदमी था—बाल-बच्चेदार गृहस्थ, बाल-बच्चा में रमा हुआ।

क्या तो उनका हुलिया था—घुटनों से जरा ही नीचे तक पहुंचने वाली मिल की धोती उसके ऊपर गाढ़े का कुर्ता और पैर में बददार जूता। यानी कुल मिलाकर आप उसे देहकान ही कहते गवइया मुच्च जो अभी गांव से चला आ रहा है जिसे कपड़ा पहनने की भी तमीज नहीं, जिसे यह भी नहीं मालूम कि धोती-कुर्ते पर चप्पल पहनी जाती है या पम्प। आप शायद उन्हें प्रेमचंद कहकर पहचानने से भी इनकार कर देते। लेकिन तब भी वही प्रेमचंद था, क्योंकि वही हिंदुस्तान है। मुझे अच्छी तरह याद है कि बर्षों उन्होंने सस्ते

के खयाल से किरमिच का जूता पहना और रगरोगन का झंझट न रहे, रोज-रोज उसपर सफेदी पोतने की मुसीबत से नजात मिले, इसलिए वह किरमिच का जूता ब्राउन रग का होता था जिसे आजकल तो शायद रिक्शेवाला भी नही पहनता और शौक से तो नही ही पहनता। और मुझे उनके दोनो पैरो की कानी उगली की अच्छी तरह याद है जो जूते को चीरकर बाहर निकली रहती थी। सादगी इससे आगे नही जा सकती। अपने ऊपर कम से कम खर्च, वह उनकी जिन्दगी का साधारण नियम था। घर के बाकी लोग भी कोई मखमल नही पहनते थे, मगर उनसे सभी अच्छे थे। या तो खैर कभी इतने पैसे ही नही हुए कि कोई बडी ऐशो इशरत से रहता और मसल भी मशहूर है कि खुदा गजे को नाखून नही देता। लेकिन जहा तक मैं समझता हू, उस आदमी को ऐशो इशरत की भूख या हविस भी नही थी। उनकी जिन्दगी मे ऐसे मौके आए जब कि ऐशो-इशरत की राह उनके लिए खुली हुई थी। दो एक राजाओ ने भी उनको अपने यहा बुलाकर रखना चाहा। और कद्रदानी के खयाल से ही ऐसा किया—मगर वह राह प्रेमचद की नही थी। उन्हे ऐशो इशरत पसन्द होती तो जहा अन्त-करण को बेचकर बहुत से लोग बम्बई की फिल्मी दुनिया मे पडे रहते हैं वहा प्रेमचद भी अपने अन्त करण का थोडा-बहुत सौदा करके पडे ही रह सकते थे और बीस बरस पहले एक हजार रुपया महीना तो पा ही रहे थे और भी ज्यादा बनाने के सिलसिले निकाल सकते थे—लेकिन नही ऐशो इशरत की सफरी सुनहरी गली उनके लिए नही थी। उनके लिए खुली हवा का राजमार्ग ही बेहतर था जहा वे एक बड के तले कुए के पास आराम से अपनी जिन्दगी गुजार सकते थे। कम से कम खुली हवा तो है ताजा ठडा मीठा पानी तो है नीला आसमान तो दिखाई देता है राह चलते किसी आदमी का बिरहा तो सुनाई दे जाता है आदमी आदमी के दुख दर्द की तो एकाध बात कर लेता है। मोह की उस मायानगरी मे तो यह सब कुछ भी नही वहा तो इसानियत भी नही वहा तो आदमी आदमी को रौंदकर आगे बढ़ता है। वहा कहा ठडा पानी और कहा ताजी हवा।

लिहाजा शुरू से ही उन्होंने उस मायानगरी की गलिया झाकने का खयाल ही छोड दिया और किसी क्षणिक आवेग मे आकर नही जीवन के एक सयत गभीर सौम्य दृढ निश्चय के रूप मे। दुनियावी नुक्त से कोई चाहे तो उन्हे बेवकूफ भी कह सकता है और वे शायद थे भी वर्ना अगर उनमे भी दगा-फरेब की अक्ल होती, बहुरूपिया बनने की कला होती गिरगिट की तरह रग बदलना आता अभिनेता की तरह समाज के रगमच का उपयोग करने की कला आती, तो निश्चय ही उन्होने भी अपने झडे गाड दिए होते दस बीस-पचास लाख की जायदाद कर ली होती और अखबार मे उनकी भी छीक का खुलासा निकला करता—लिहाजा इसमे क्या शक कि वह बेवकूफ तो थे ही जो दुनिया मे दुनियावालो की

तरह बरतना उन्होंने नहीं सीखा अपनी आदर्शवादी सपनों की दुनिया में रहते रहे ज़िन्दगी भर पैसे की तंगी के शिकार रहे और मरते वक्त अपना इलाज भी ढंग से नहीं करवा सके। मेरी आँखों के सामने बनारस में राम कटोरा बाग का वह घर घूम रहा है और उस घर की वह कोने वाली कोठरी और उस कोठरी में बनी चारपाई और उसपर नीली कुम्हलाई हुई पिंजरनुमा आकृति, वे हड्डी हड्डी बाहें पतानी की वे मोटी मोटी भुरियाँ और वे पनी चमकती हुई गहरी गहरी आँखें जिनकी चमक आखिरी वक्त तक बुझी नहीं मगर जितना ही वह तसवीर मेरी आँखों के सामने नुमायाँ होती है उतना ही दर्द होता है और उतना ही गुस्सा मेरे अन्दर जागता है कि उस दुनिया को नस्तोनाबूद कर देना चाहिए जिसमें इंसान की इंसानियत की कद्र नहीं जिसमें सिर्फ चोर और गिरहकट और भड़री और स्पोरशख पनपते हैं। यह बात हज़ार मुँहों से भी कही जाए तो थोड़ी है कि प्रेमचंद से बढ़तर इंसान मुश्किल से ही मिलेंगे। घर में उनसे अधिक प्रेमी पति और वत्सल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हम लोगों के संग दोस्त का सा बर्ताव किया। मैं अपनी बात कहता हूँ वह मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे। मुझे याद ही नहीं आता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक भी कड़ा शब्द मुझे कहा हो मारने का तो खैर जिक्र ही बेकार है। यहाँ तक कि पढ़ने के लिए भी उन्होंने कभी एक बार भी नहीं कहा। हाँ अगर इस सिल सिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली गवाडी में गवाकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था जो कि अगले रोज़ मास्टर साहब को दिखलाना था तो उन्होंने डाँटकर मुझे कमरे से बाहर किया था और कहा था—जाओ खेलने शाम को कभी घर में मत रहा करो। यह सही बात है कि हम उनको अपनी बराबरी का और अपना सबसे बड़ा दोस्त समझते थे सबसे प्यारा दोस्त। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग पिता के संग खाना खाने के लिए ललकते थे और किसी भी दिन उनके बगैर नहीं खाते थे। सुबह को तो खैर खाना खाकर स्कूल भागना रहता था मगर रात के खाने के लिए तो हम लोग दस दस बजे रात तक उनका इंतजार करते थे। नींद से आँखें झपी जाती थीं कभी कभी तो सो भी जाते थे मगर तब भी उनके संग खाना खाने का लोभ संवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पड़ती है मगर इतनी छोटी नहीं है। बाप बेटे में इतनी सहज गहरी मैत्री बराबर के दोस्त की जैसी कम ही देखने में आती है। हर छोटी बड़ी बात में यही मैत्री दिखाई देती थी। मुझे याद आता है सन '३५ के दिनों की बात है। मैंने तब साल डेढ़ साल पहले से लिखना शुरू ही किया था। मैं तब इलाहाबाद में रहता था हाईस्कूल में पढ़ता था और प्रेमचंद बम्बई से लौटकर बनारस आ गए थे। मैंने अपनी एक कहानी पिताजी के पास उनकी

राय और इसलाह के लिए भेजी। वह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमे करुणरस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज़ होती नहीं अगर करुण-रस का पूर्ण परिपाक करना है तो कहानी मे दो चार मौतें तो होनी ही चाहिए। लिहाजा नायक-नायिका सब मर गए। पिताजी ने कहानी पढ़कर बडे दोस्ताना अन्दाज़ मे मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है, बस एक बात है कि इतनी मौतें न हो तो अच्छा, क्योंकि ऐसी कहानियाँ कमज़ोर मानी जाती हैं जिनमे ज्यादा मौतें होती हैं। बाकी सब बहुत ठीक है। बाकी उसमे था ही क्या, निरी बच-कानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत सुपीरियर अदाज मे उनको जवाब लिखा कि हाँ जो बात तुम लिखते हो—हम लोग पिताजी को तुम कहते थे आप नही आपस पता नही कितनी दूरी का आभास था—हाँ तो जो बात तुम लिखते हो वह आमतौर पर सही हो सकती है लेकिन जहाँ तक इस खास कहानी का ताल्लुक है, इसमे तो इन मौतों का होना अनिवार्य है, क्योंकि कहानी का यही तक़ है। इसी किस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वे चुप हो रहे। बेचारे और करते भी क्या!

इस घटना का उल्लेख मैंने यह बतलाने के लिए नही किया कि मैं कितना गधा था या हूँ बल्कि इसलिए कि आपको मालूम हो कि छोटे से छोटे लेखक से भी वे बराबरी की सतह पर उतरकर बात करते थे। हिमालय की ऊँचाई से बात करना उन्हें आता ही नही था। वे तो आपके होकर घुल मिलकर ही आपसे बात कर सकते थे। इसलिए छोटे से छोटे आदमी को भी उनसे बराबरी से बात करने की जुरअत हो जाती थी और जब यह स्थिति होती है तभी आदमी सीखता भी है। भले आज उलटी ही परिपाटी हो मगर आशीर्वादों और प्रवचनों से कभी किसी नये लेखक का कुछ नही मिला। प्रेमचद एक गहरे दोस्त की तरह साथी की तरह नये लेखक के हाथ मे हाथ देकर उसे अच्छा लिखना आगे बढ़ना सिखलाते थे और मुक्त हृदय से नये लेखक की प्रशंसा करते थे जिससे उसका उत्साह बढ़ता था। मेरे जीवन का तो यह कठोरतम दुर्भाग्य है कि जब मैं उनसे कुछ सीखने के काबिल हुआ तभी वे मुझसे अलग हो गए। लेकिन आज हिंदी मे जैनेन्द्र अज्ञेय राधाकृष्ण जनार्दनराय नागर जनार्दन झा द्विज गगाप्रसाद मिश्र वीरेश्वर सिंह उपेन्द्रनाथ अश्क वीरेन्द्रकुमार जैन पहाडी जैसे अनगिनत लेखक हैं जिनको प्रेमचद ने अपने हाथ से सँवारा है जिनकी नई प्रतिभा को उन्होंने पहचाना है और उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया। अभी उस रोज महादेवीजी बतला रही थी कि अपनी पहली या दूसरी कविता पर उनको भी प्रेमचद का एक बहुत प्यारा-सा कार्ड मिला था। वैसे ही सुभद्राकुमारी चौहान को बिखरे मोती की कहानियो पर, और पता नही

तरह बरतना उन्होंने नही सीखा, अपनी आदशवादी सपनो की दुनिया म रहते रहे जिन्दगी भर पैसे की तगी के शिकार रहे और मरत वक्त अपना इलाज भी ढग स नहा करवा सके। मेरी आखो के सामने बनारस म राम कटोरा बाग का वह घर घूम रहा है और उस घर की वह कोने वाली कोठरी और उस कोठरी म वही चारपाई और उसपर नीली कुम्हलाई हुई पिजरनेप आकृति, वे हड्डी हड्डी बाह पतली की व मोटी मोटी भरिया और वे पनी चमकती हुई गहरी गहरी आखें जिनकी चमक आखिरी वक्त तक बुझी नही मगर जितना ही वह तसवीर मेरी आखो के सामन नुमाया होती है उतना ही दद होता है और उतना ही गुस्सा मेरे अन्दर जागता है कि उस दुनिया को नेस्तोनाबूद कर देना चाहिए जिसम इसान की इसानियत की कद्र नही जिसम सिफ चोर और गिरहकट और भडुरी और ढपोरशख पनपत हैं। यह बात हजार मुहो से भी कही जाए तो थोडी है कि प्रेमचद से बहतर इन्सान मुश्किल म ही मिलेंगे। घर म उनसे अधिक प्रेमी पति और वत्सल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हम लोगो के सग दोस्त का सा बताव किया। मैं अपनी बात कहता हू वह मेरे सबसे *प्यार दोस्त थ। मुझे याद ही नही आता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक* भी कडा शब्द मुझे कहा हो मारने का तो खर जिक्र ही बेकार है। यहा तक कि पढने क लिए भी उन्होंने कभी एक बार भी नही कहा। हा अगर इस सिल सिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली गवाडी म गवाकर शाम को कमर मे बैठा भूगोल का होमवक कर रहा था जो कि अगले रोज मास्टर साहब को दिखलाना था तो उन्होंने डाटकर मुझे कमर से बाहर किया था और कहा था—जाओ खेलने शाम को कभी घर म मत रहा करो। यह सही बात है कि हम उनको अपनी बराबरी का और अपना सबसे बडा दोस्त समझते थ सबसे प्यारा दोस्त। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग पिता क सग खाना खाने के लिए ललकते थ और किसी भी दिन उनके बगर नही खाते थे। सुबह को तो खर खाना खाकर स्कूल भागना रहता था मगर रात के खाने क लिए तो हम लोग दस दस बजे रात तक उनका इतजार करत थे। नीद स आखें झपी जाती थी कभी कभी तो सो भी जाते थ मगर तब भी उनके सग खाना खाने का लोभ सवरण न कर पाते थे। यह बात देखन म छोटी मालूम पडती है मगर इतनी छोटी नही है। बाप बेटे म इतनी सहज गहरी मैत्री बराबर क दोस्त की जसी कम ही देखने म आती है। हर छोटी बडी बात म यही मैत्री दिखाई दती थी। मुझे याद आता है सन् ३५ के दिनो की बात है। मैंने तब साल डेढ साल पहले स लिखना शुरू ही किया था। मै तब इलाहाबाद म रहता था हाईस्कूल म पढता था और प्रेमचद बम्बई स लौटकर बनारस आ गए थ। मैंने अपनी एक कहानी पिताजी के पास उनकी

राय और इसलाह के लिए भेजी। यह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमे करुणरस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज होती नही अगर करुण-रस का पूर्ण परिपाक करना है तो कहानी में दो चार मौतें तो होनी ही चाहिए। लिहाजा नायक-नायिका सब मर गए। पिताजी ने कहानी पढकर बडे दोस्ताना अन्दाज में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है बस एक बात है कि इतनी मौतें न हों तो अच्छा, क्योंकि ऐसी कहानियां कमजोर मानी जाती हैं जिनमे ज्यादा मौतें होती हैं। बाकी सब बहुत ठीक है। बाकी उसमे था ही क्या, निरी बच-कानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत सुपीरियर अदाज मे उनको जवाब लिखा कि हां जो बात तुम लिखते हो—हम लोग पिताजी को तुम कहते थे, 'आप' नही, आपमें पता नहीं कितनी दूरी का आभास था—हां तो, जो बात तुम लिखते हो, वह आमतौर पर सही हो सकती है लेकिन जहां तक इस खास कहानी का ताल्लुक है इसमे तो इन मौतों का होना अनिवार्य है, क्योंकि कहानी का यही तक है। इसी किस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वे चुप हो रहे। बेचारे और करते भी क्या!

इस घटना का उल्लेख मैंने यह बतलाने के लिए नही किया कि मैं कितना गधा था या हूं बल्कि इसलिए कि आपको मालूम हो कि छोटे से छोटे लेखक से भी वे बराबरी की सतह पर उतरकर बात करते थे। हिमालय की ऊंचाई से बात करना उन्हें आता ही नही था। वे तो आपके होकर घुल मिलकर ही आपसे बात कर सकते थे। इसलिए छोटे से छोटे आदमी को भी उनसे बराबरी से बात करने की जुरअत हो जाती थी और जब यह स्थिति होती है तभी आदमी सीखता भी है। भले आज उलटी ही परिपाटी हो मगर आशीर्वादों और प्रवचनों से कभी किसी नये लेखक को कुछ नही मिला। प्रेमचद एक गहरे दोस्त की तरह माता की तरह नये लेखक के हाथ मे हाथ देकर उसे अच्छा लिखना सिखाते थे और मुक्त हृदय से नये लेखक की प्रशसा करते थे जिससे उसका उत्साह बढ़ता था। मेरे जीवन का तो यह कठोरतम दुर्भाग्य है कि जब मैं इस कुछ सीखने के काबिल हुआ तभी वे मुझसे अलग हो गए। लेकिन आज हिन्दी में जैनेन्द्र, अश्क, राधाकृष्ण, अमृतलाल नागर, जनार्दन झा द्विज, रामचन्द्र... वीरेश्वर सिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, वीरेन्द्रकुमार जैन, पहाड़ी, जग-दीशप्रसाद मिश्र... जिनको प्रेमचद ने अपने हाथ से सवारा है जिनकी नई अनगिनत ... हैं जिनको उन्होंने पहचाना है और उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया। अभी उस रोज महादेवीजी बतला रही थीं कि अपनी पहली या दूसरी कविता पर उनको भी प्रेमचद का एक बहुत प्यारा-सा खत मिला था। यह ही सुभद्राकुमारी चौहान का ... मोती की कहानियों पर ... और पता नहीं

तरह बरतना उन्होंने नहीं सीखा, अपनी आदर्शवादी सपनों की दुनिया में रहे रहे, जिन्दगी भर पैसे की तंगी के शिकार रहे और मरते वक्त अपना इलाज भी ढंग से नहीं करवा सके। मेरी आंखों के सामने बनारस में रामकटोरा बाग का वह घर घूम रहा है और उस घर की वह कोने वाली कोठरी और उस कोठरी में वही चारपाई और उसपर नीली कुम्हलाई हुई पिंजरशेष आकृति, वे हड्डी हड्डी बाहें, पेशानी की वे मोटी मोटी भुर्रियां और वे पैनी चमकती हुई गहरी गहरी आंखें जिनकी चमक आखिरी वक्त तक बुझी नहीं, मगर जितना ही वह तसवीर मेरी आंखों के सामने नुमायां होती है, उतना ही दर्द होता है और उतना ही गुस्सा मेरे अन्दर जागता है कि उस दुनिया को नेस्तोनाबूद कर देना चाहिए जिसमें इंसान की इंसानियत की कद्र नहीं, जिसमें सिर्फ चोर और गिरहकट और भड़री और ढपोरशंख पनपते हैं। यह बात हजार मुहों से भी कही जाए तो थोड़ी है कि प्रेमचन्द से बेहतर इंसान मुश्किल से ही मिलेंगे। घर में उनसे अधिक प्रेमी पति और वत्सल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हम लोगों के संग दोस्त का सा बर्ताव किया। मैं अपनी बात कहता हूं, वह मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे। मुझे याद ही नहीं आता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक भी कड़ा शब्द मुझे कहा हो, मारने का तो खैर जिक्र ही बेकार है। यहां तक कि पढ़ने के लिए भी उन्होंने कभी एक बार भी नहीं कहा। हां, अगर इस सिल-सिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली गबाडी में गंवाकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था जो कि अगले रोज मास्टर साहब को दिखलाना था, तो उन्होंने डाटकर मुझे कमरे से बाहर किया था और कहा था—जाओ खेलने, शाम को कभी घर में मत रहा करो। यह सही बात है कि हम उनको अपनी बराबरी का और अपना सबसे बड़ा दोस्त समझते थे, सबसे प्यारा दोस्त। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग पिता के संग खाना खाने के लिए ललकते थे और किसी भी दिन उनके बगैर नहीं खाते थे। सुबह को तो खैर खाना खाकर स्कूल भागना रहता था, मगर रात के खाने के लिए तो हम लोग दस दस बजे रात तक उनका इंतजार करते थे। नींद से आंखें झपी जाती थीं, कभी कभी तो सो भी जाते थे, मगर तब भी उनके संग खाना खाने का लोभ संवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पड़ती है मगर इतनी छोटी नहीं है। बाप बेटे में इतनी सहज गहरी मैत्री, बराबर के दोस्त की जैसी कम ही देखने में आती है। हर छोटी बड़ी बात में यही मैत्री दिखाई देती थी। मुझे याद आता है सन् '३५ के दिनों की बात है। मैंने तब साल डेढ़ साल पहले से लिखना शुरू ही किया था। मैं तब इलाहाबाद में रहता था, हाईस्कूल में पढ़ता था और प्रेमचन्द बम्बई से लौटकर बनारस आ गए थे। मैंने अपनी एक कहानी पिताजी के पास उनकी

तरह बरतना उन्होंने नहीं सीखा, अपनी भावनाओं सपनों की दुनिया में रहते रहे जिन्दगी भर पैसे की तंगी के शिकार रहे और मरते वक्त अपना इलाज भी ढंग से नहीं करवा सके। मेरी आंखों के सामने बनारस में रामकटोरा बाग का वह घर घूम रहा है और उस घर की वह कोने वाली कोठरी और उस कोठरी में बनी चारपाई और उसपर नीली कुम्हलाई हुई पिताजी की आकृति वे हड्डी हड्डी बाहें पतली सी वे मोटी मोटी भौंहें और वे पैनी चमकती हुई गहरी गहरी आंखें जिनकी चमक आखिरी वक्त तक बुझी नहीं मगर जितना ही यह तसवीर मेरी आंखों के सामने नुमायां होती है उतना ही दर्द होता है और उतना ही गुस्सा मेरे अन्दर जागता है कि उस दुनिया को नेस्तोनाबूद कर देना चाहिए जिसमें इंसान की इंसानियत की कद्र नहीं जिसमें सिर्फ चोर और गिरहकट और भड़ुए और दपोरसंख पनपते हैं। यह बात हजार मुंह से भी कही जाए तो थोड़ी है कि प्रेमचंद से बेहतर इंसान मुश्किल से ही मिलेंगे। पर में उनसे अधिक प्रेमी पति और कमाल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हम लोगों के संग दोस्त का सा बर्ताव किया। मैं अपनी बात कहता हूं वह मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे। मुझे याद ही नहीं आता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक भी कड़ा शब्द मुझसे कहा हो मारने का तो सवाल जिक्र हो बेकार है। यहां तक कि पढ़ने के लिए भी उन्होंने कभी एक बार भी नहीं कहा। हां अगर इस सिलसिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली डंडे से घर लौटकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था जो कि अगले रोज मास्टर साहब को दिखलाना था तो उन्होंने डांटकर मुझे कमरे से बाहर किया था और कहा था—जाओ खेलने शाम को कभी घर में मत रहा करो। यह सही बात है कि हम उनको अपनी बराबरी का और अपना सबसे बड़ा दोस्त समझते थे सबसे प्यारा दोस्त। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग पिता के संग खाना खाने के लिए लालायित थे और किसी भी दिन उनके बगैर नहीं खाते थे। सुबह को तो खैर खाना खाकर स्कूल भागना रहता था मगर रात के खाने के लिए तो हम लोग दस दस बजे रात तक उनका इंतजार करते थे। नींद से आंखें झपी जाती थीं कभी कभी तो सो भी जाते थे मगर तब भी उनके संग खाना खाने का लोभ संवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पड़ती है मगर इतनी छोटी नहीं है। बाप बेटे में इतनी सहज गहरी मैत्री बराबर के दोस्त की जैसी कम ही देखने में आती है। हर छोटी बड़ी बात में यही मैत्री दिखाई देती थी। मुझे याद आता है सन् ३५ के दिनों की बात है। मैंने तब साल डेढ़ साल पहले से लिखना शुरू ही किया था। मैं तब इलाहाबाद में रहता था हाईस्कूल में पढ़ता था और प्रेमचंद बम्बई से लौटकर बनारस आ गए थे। मैंने अपनी [illegible] पिताजी के

राय और इसलाह के लिए भेजी। वह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमें करुणरस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज होती नहीं अगर करुण-रस का पूर्ण परिपाक करना है तो कहानी में दो चार मौतें तो होनी ही चाहिए। लिहाजा नायक-नायिका सब मर गए। पिताजी ने कहानी पढ़कर बड़े दोस्ताना अन्दाज में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है बस एक बात है कि इतनी मौतें न हों तो अच्छा, क्योंकि ऐसी कहानियां कमजोर मानी जाती हैं जिनमें ज्यादा मौतें होती हैं। बाकी सब बहुत ठीक है। बाकी उसमें था ही क्या निरी बच-कानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत सुपीरियर अंदाज में उनको जवाब लिखा कि हां जो बात तुम लिखते हो—हम लोग पिताजी को तुम कहते थे 'आप' नहीं, आपस पता नहीं कितनी दूरी का आभास था—हां तो जो बात तुम लिखते हो वह आमतौर पर सही हो सकती है लेकिन जहां तक इस खास कहानी का ताल्लुक है इसमें तो इन मौतों का होना अनिवार्य है क्योंकि कहानी का यही तर्क है। इसी किस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वे चुप हो रहे। बेचारे और करते भी क्या!

इस घटना का उल्लेख मैंने यह बतलाने के लिए नहीं किया कि मैं कितना गधा था या हूं बल्कि इसलिए कि आपको मालूम हो कि छोटे से छोटे लेखक से भी वे बराबरी की सतह पर उतरकर बात करते थे। हिमालय की ऊंचाई से बात करना उन्हें आता ही नहीं था। वे तो आपके होकर घुल मिलकर ही आपसे बात कर सकते थे। इसलिए छोटे से छोटे आदमी को भी उनसे बराबरी से बात करने की जुरअत हो जाती थी और जब यह स्थिति होती है तभी आदमी सीखता भी है। भले आज उलटी ही परिपाटी हो मगर आशीर्वादों और प्रवचनों से कभी किसी नये लेखक को कुछ नहीं मिला। प्रेमचंद एक गहरे दोस्त की तरह साथी की तरह नये लेखक के हाथ में हाथ देकर उसे अच्छा लिखना आगे बढ़ना सिखलाते थे और मुक्त हृदय से नये लेखक की प्रशंसा करते थे जिससे उसका उत्साह बढ़ता था। मेरे जीवन का तो यह कठोरतम दुर्भाग्य है कि जब मैं उनसे कुछ सीखने के काबिल हुआ तभी वे मुझसे अलग हो गए। लेकिन आज हिन्दी में जैनेन्द्र अज्ञेय राधाकृष्ण जनार्दनराय नागर जनार्दन झा द्विज गंगाप्रसाद मिश्र वीरेश्वर सिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क वीरेन्द्रकुमार जैन पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक हैं जिनको प्रेमचंद ने अपने हाथ से संवारा है जिनकी नई प्रतिभा को उन्होंने पहचाना है और उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया। अभी उस रोज महादेवीजी बतला रही थीं कि अपनी पहली या दूसरी कविता पर उनको भी प्रेमचंद का एक बहुत प्यारा-सा कार्ड मिला था। बस ही सुभद्राकुमारी चौहान को बिखरे मोती की कहानियों पर और पता नहीं

किन किनको। आज की तो सारी पीढी ही उनके हाथ की गढी हुई है। पता नही उस आदमी के पास स्फूर्ति का ऐसा कौन-सा अक्षयस्रोत था, जो वह सबको हिन्दुस्तान के कोन कोन म उसका दान कर सकता था और एक नया लखक जिसने शायद दो हा चार कहानिया लिखी होगी प्रेमचद का खत जेब म डाले उसकी शराब मे झूमता रहता था और साहित्य सष्टि के लिए अपन म अजस्र शक्ति का उद्रेक होता अनुभव करता था। इस तरह पता नही कितनी प्रतिभाओं को मुकुलित होन का मौका मिला जो या शायद मर जाती। और इस सारी चीज की जड मे उनकी वह सरल निश्छल इसानियत थी जो घर और बाहर सब जगह यकसा सोना बिखेरती था।[1]

---

१ श्री अमतराय का यह लख क्रम की दष्टि से सबस पहले माना था किन्तु स्वीकृति कुछ विलम्ब स मिलन के कारण अन्त में दिया जा रहा है।

मुद्रक ज्ञान प्रिटस शाहदरा दिल्ली ११० ०३२